

सुबह सुबह है और रात रात

एक
दो
तीन तारे

चार
पाँच
छः तारे

सात
आठ
नौ तारे

अनगिनत तारे
कौन-सा तारा खिसक पड़ा मिट्टी पर
बनकर घास का फूल
चौंका दिया एकाध शिल्पी को
कौन-सा तारा जुनो बनकर
ऊपर रहा वृहस्पति के प्रेम में
कौन पूछता है।

नीचे ऊपर या ऊपर नीचे
कोई फर्क नहीं पड़ता
पराक्रमी पराजित पृथ्वी के लिए ।

मुँह के कुछ दाँत खो जाएँ
या टूट जाएँ
या कीड़े लगकर झड़ जाएँ
तो क्या उपवास में रहता है कोई ?
अविरत चलता रहता है खाना-पीना
मुँक के रास्ते से हो
या नाक के रास्ते से ।

चारों ओर गुलाब का उपवन
चारों ओर नवदुर्गा के
नैवेद्य के लिए गाना-बजाना ।।

कूँथते-हाँफते बदन के बावजूद
साइकिल धकेलते हुए
चलना ही पड़ता है
स्कूल, कालेज या सचिवालय की
अंध गलियों में
सहसा दिख जाएँ तो
हाकिमों को
तपाक से साइकिल से उतर कर
'सलाम' ठोकना पड़ता है,
जीवन और जीविका के भय से ।

क्योंकि

नई धरती, नई सुबह

नई-नई प्रीति की गजल

बनी नहीं है

अबतक हमारे लिए

गणतंत्र की नींव कहलाने वाले

इस अजीब भारतवर्ष में।



जल तरंग की नदी

बुला रहा है
 बुलाता रहा है आ... आ...
 वही नील सागर
 चाह रहा है
 एकाकार आलिंगन

खोज रहा है
 सुबह शाम
 अरें ! उस बुलावे में ऐसा क्या है ?
 सम्मोहन या द्वापर के मोहन का वंशीश्वन ।

तू नदी
 भागती जा रही है
 पायजेब गौरवर्णा पैरों से
 दूर धकेल कर कई युगों को ।

भाग रही है तो भागती जा रही है
 उखड़ती साँसों से

सुनील सागर कर
 तरंगायित विभोर चुम्बन में
 एकाकार करने अपने आप को
 अपने प्रवाह को ।
 एकाकार यानी
 एक ही आकार ।
 प्रवाह यानी निर्वाह नहीं
 निर्वाण भी ।

निर्वाण यानी परि-निर्वाण
 जहाँ से लौट कर फिर आना
 अक्सर असंभव ।

हे, बाजे-गाजे और संगीत की महफिल में
 उच्छ्वसित जलसा-घर की प्रिय-नदी
 तू निर्वाण को प्राप्त हो
 जैसे 'मालिनी' नदी
 जगन्नाथ पुरी के राज-पथ पर
 बन चुकी है
 रूपांतरित 'शरधाबालि' ।

सोचता है
 तुझे निर्वाण मिलने से पहले
 आँखे भरकर निहार लेता
 एक बार तुझे

लेकिन कैसे
मेरी दोनों आँखों में
भरी हुई है रात
रात ही रात ।
सिर्फ सुन पा रहा है
तेरे गर्भ के
महासंगीत के जलसाधर से
'गीत गोविन्द' की अन्तरा का
एकाध स्वर ।

कभी वर्षा ऋतु का नीरव मल्हार ।



बाद में, बाद में, उसके बाद में

नदी भूल चुकी है
प्रारंभ काल के दिन-रात ।

मैं नहीं भूला
दिख तो रहा है—
नदी के उस पार
वही पुराना फैला हुआ
विशाल पावन वृक्ष ।

कितने सारे पंछी थे वहाँ
पेड़ की डालों में,
कोटर के अन्दर
बीमार, बूढ़े भरद्वज पक्षी का
अकेला नीड़ था ।

नदी भूल चुकी है
सोने के जेवरात को
सेर से नापने का वह जमाना ।

मैं नहीं भूला,
भूल भी नहीं सकता ।

नदी के उस पार
मेरी माँ पूरी तरह यानी
पूरी तरह विश्राम लेने के बाद
तपती रेत पर,
चिलचिलाती धूप में
अस्थियों को धोकर पंचामृत से
अदृश्य प्रेतों के
नाच-गाने के हल्लीशक में
मैंने दशाह पूरा किया था
और माँ की पवित्र अस्थियों को
बहा दिया था
अश्रु-जाल को घोल कर
नदी के खैरा जल में ।

चित्र होकर नदी जल में
तैरते हुए नहाते समय
अभी भी मुझे लगता है
कि यह दुरन्त नदी
मुझे सुला रही है
मेरी माँ की गोद में ।
नदी खुद के गुनगुनानेवाले
अपने गीतों की करुण लोरियाँ सुना कर ।



उस मूर्ख-नासमझ बालक की कथा

काफी लोग पूछते हैं
 कि नदी तुम्हारी क्या लगती है !
 नदी-मनस्क तुम क्यों हो इतना ?
 इस सताल का जवाब हो क्या सकता है
 मैं बिलकुल समझ नहीं पाता हूँ।

क्या ऐसा नहीं है
 कि सभी की देह के भीतर
 बहती रहती है एक नदी
 कल-कल, छल-छल
 जन्म लेते ही।

उस पर बहती रहती है
 एक छोटी-सी नाव
 पाल तना हुआ
 किस दिशा की ओर चलती रहती है
 दिगन्त या दिगांगनाएँ भी
 जान नहीं सकती।

नदी को
 मैंने कब जाना कब पहचाना
 कि यह है नदी
 कि इसे ही कहते हैं नदी
 यह नदी
 अक्सर लिपटी हुई रहती है
 ताराओं से जड़े
 आसमानी रंग की साढ़ी से।
 कभी-कभी
 काले बादल के रंग की
 ओर कभी
 अपराजित पुष्प के रंग की
 खूब क्वचित
 नारंगी रंग की साढ़ी
 जो उसे खूब फबती है
 सूर्यास्त हो
 या सूर्योदय के समय !

नदी के भीतर
 मैं गया था पहली बार :
 गया था या
 ले लिया गया था मुझे
 उसी सरस्वती पूजा के पिछले दिन
 नदी पहनी हुई थी
 एक महीन
 सूर्यास्त के रंग की
 या गाढ़े नारंगी रंग की साढ़ी।

मेरे आसपास थे रवि दादा
 और वही
 हनुमान वाटिका की
 घास-फूस से बनी पाठशाला के
 करणी लम्बू मास्टर जी ।

मैंने पहली बार देखी
 अपने गाँव की
 पावन देहाती नदी ।
 जंगली गीत
 गुनगुनाती जा रही है ।
 रेत की चौड़ी सेज
 रेत की सेज के किनारे-किनारे
 रखने तक पानी ।
 पानी की धारा पसर गयी है
 दूर-दूर तक !
 आगे बढ़ने की सनाही ।
 सामने है गहरा दह ।
 दह में गहरा पानी
 पानी की चादर पर
 सजे हुए हैं
 सफेद और नील कमल
 खूशबू से मतवाले हो
 मँडरा रहे हैं थोड़े-से भँवर ।

उस दिन
 उस नदी की रेत को खोद कर

एक गड़ढा बनाया गया ।
 उस गड़ढे में
 एक श्रीफल को रख कर
 मेरे हाथों से भर दिया गया ।

अगले दिन भोर ही भोर
 नये कपड़े पहन कर
 माथे पर चन्दन का टीका लगाए
 मैं चला उनके साथ
 नदी की ओर ।
 मुझे कहा गया
 या शून्य से वैसा सुनाई पड़ा
 श्रीफल कहाँ है रेत में दूँढ़ निकालो''
 मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था ।

इतनी बड़ी ल्बी नदी
 पिछली शाम को
 कहाँ गड़ा था नारियल
 याद तो नहीं है !
 मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था
 अपलक नयनों से
 सिर्फनिहार रहा था
 चारों ओर ।
 वे भी समझ नहीं पा रहे थे
 और देख भी नहीं पा रहे थे
 मेरी आखों की गहरी शयता को ।

नदी-किनारे शमशान घाट ।
 बूड़े बरगद के पास
 जल रही थी आग ।
 सफेद कपड़े से लिपटे
 एक मरे हुए इंसान को
 होने लेकर रख दिया
 उस धधकती आग पर ।
 आग जल रही थी चड़-चड़
 ऊपर की ओर उठ रही थीं
 धुएँ की कुंडलियाँ ।

मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था
 मेरे हाथ में किसी ने
 'श्रीफल' को थमा दिया
 रवि दादा
 या हनुमान वायिका की
 घास-फूस की पाठशाला के
 वही करणी लबू मास्टर जी
 आद्य गुरू मेरे ।

माथे पर चंदन का टीका
 और नये कपड़े पहन
 चारों तरफ मैं
 अपलक निहार रहा था
 अचानक सभी शोर मचाने लगे
 कि यह लड़का होशियार है ।

आज मैं सोच रहा हूँ
 कि सच में कितना मूर्ख था मैं।
 उस गूढ़ रय को
 कुछ भी समझ नहीं पा रहा था।
 'अ' में-यों एक डंडी लगती है
 'आ' में-यों दो।
 कितना निरीह, ना समझ था मैं।
 बैठो कहने से बैठ जाता था।
 खाओ कहने से खा लेता था।
 'सो जाओ' कहने से
 सो जाता था खाट के किनारे
 पिताजी को निहारते हुए
 माँ की गोद को बिसूरते हुए।

आज भी बिसूर रहा हूँ
 खूब बिसूर रहा हूँ
 खोयी हुई माँ और पिता की गोद को
 उसी नदी में।
 उसी नदी में ही।
 तोते के पंख लगे
 बचपन के वे दिन कहाँ गये मेरे ?
 कया उड़ गये
 ओड़िशा की महानदी की नील लहरों में
 बन कर छोटी-छोटी हरित कश्तियाँ
 मुहाने की ओर !



कफरू

मत खोलो
 खोलो ही मत
 ही.वी. का परदा
 चल रहा है वहाँ
 बर्बरता के षडयंत्र के खिलाफ
 दुर्धर्ष घमासान ।

जल रही है आग
 लपलपाती आग,
 मौत की भीषण आग
 यह दावाग्नि, बड़वाग्नि या शवाग्नि ?

पंखे की तरह घूम रही हैं
 गिरहदार बास की
 गाँठदार बेदर्द लाठियाँ
 घूम रही हैं
 अनवरत हवा में, शून्य में
 चल जो रहा है

मृत्यु की विभीषिका का
ध्रुपदो-नृत्य ।

भूकंप के गड़गड़ाने,
तड़कने की आवाज से
काँप उठती है
कोमल अँधेरी रात की
व्याकुल अधीरता ।
क्रोध और क्रोध, प्रचण्ड क्रोध
भीत, संत्रस्त, लाँछित्
नग्न मानव की आँखों में
जल रही है
शताब्दी के क्षुधित बाघ की
खूँखार आग ।

युगों-युगों की प्रवंचना की
कपट-पासा की तंद्रा
मिट रही है आँखों की पलकों से ।

लपलपाती आग फैलती जा रही है
आग के अंधड़ का ईगॅल बन ।
उस जलने और जलाने वाली आग के
रक्त-प्रकाश में
जागने लगा है
नवरात्रि का प्रथम प्रभात
अभ्रभेदी आकाश के सीने से

खिसक रही है
अग्नि-पिण्ड की नारी-मूर्ति की
काली छाया
आँगन में बिछी हुई है
षोडश उपचार के नैवेद्य
और एक रक्तात त्रिशूल ।

दूर दूर सुदूर तक फैले क्षितिज से
धीरे-धीरे बहती आ रही है
पक्षियों के कलरव में
शहनाई की मंगल रागिनी । या देवी... ।



मधुरम् मधुरा

याद न रख पाना
 एक आशीर्वाद ही है ईश्वर का ।
 नहीं तो
 माँ, बाबूजी और आत्मीय-स्वजनों के
 गुजर जाने के बाद
 सुनसान नदी तट को निहारते-निहारते
 मैं मर रहा होता हर पल हर क्षण ।
 हर रोज मरता होता हजारों बार
 जीता होता हजारों बार
 पुनः-पुनः, बार-बार ।।

आशीर्वाद हो या अभिशाप
 ईश्वर का
 सब कुछ नहीं है क्या जैसा
 हथेली के आगे का और पीछे का हिस्सा ।

कभी-कभी कई खयाली
 अजीब बातें आती हैं मन में

ईश्वर के सभी आशीर्वादों को अभिशाप
 और सभी अभिशापों को आशीर्वाद
 मान लें तो कैसा हो ?
 यानी अभिशाप, अभिशाप नहीं
 आशीर्वाद, आशीर्वाद नहीं
 सब कुछ हैं
 उस एक ही हाथ से जुड़ी हुई
 हथेली की उल्टी-पुल्टी
 अचरज भरी करामात !
 ऐसा ही होता है
 शायद होता रहता है
 इस अदल-बदल को हम
 ठीक से समझ नहीं पाते हैं।
 ऐसी एक भावमयता में पहुँचने के लिए
 हमारे मन की तह को और गहरा
 निश्चल करना ह्रागो।
 एक बार इस निश्चल मन को
 सिद्धि मिल गई
 फिर परवाह क्या ?
 तब सब कुछ
 सहज ही सहज लगने लगेगा।
 समझ में आएगा
 कि अँधेरा-प्रकाश, धरती-आकाश
 क्या है, कैसा है।
 उस समय नदी की
 भीषण बाढ़ के जल-प्रवाह में
 कमल का एक फूल खिलेगा,

फिर एक-एक करके अनेक
और उन कमलों पर पैर रख
जा भी सकते हैं
नदी के उस पार के
वीरान उपत्यका में
कपट के किवाड़ खुल जाएँगे
अन्तस की शुद्धि से
छूने लगेगा शुद्ध समीर
सभी चीजों को
समूचे चेतन और जड़ को
खुल जाएगी
तप से थकी आँखों की पलकें
मुकुलित होगी फूलों की पंखुड़ियाँ
एक दिव्य, अनिन्द्य प्रकाश की
सुगंधित महक से ।



राहू-काल

हर दिन हर घड़ी
समय-काल ठीक ही रहता है
यह कौन कह सकता है।

ऐसा कौन है समूची धरती पर
ग्रह-ग्रहान्तर पर मानव को भेजने वाला
ग्रह-ग्रह में जाकर फोटो खींचने वाला
विचक्षण विज्ञानी ?
न ग्रहविप्र ! न ज्यातिषी
न तंत्र-साधक भैख-भैरनी ?
शायद एक थे सिद्ध पुरूष
इस ओड़िशा में त्राहि अच्युत।
होंगे तो होंगे एकाध
इस पृथ्वी के किसी देश में
किसी अलग नाम से।
पर कोई नहीं बदल सकता
अँधेरे को उजाले में।

समुद्र को एक विशाल नदी में
 या नदी को समुद्र में ।
 तारे को चाँद में या चांद को तारे में !
 तमें पता है
 कि कोई भी हमेशा के लिए
 बेवकूफ नहीं बना सकता सब को ।
 हो सकता है,
 कुछेक को हमेशा के लिए
 और थोड़े लोगों को
 सिर्फ कुछ समय के लिए ।

हमारे चलते-फिरने तक
 यह नहीं कह सकते
 कि चलते-चलते लड़खड़ाकर
 गिरोगे नहीं जबीन पर
 यों ही ठोकर खाकर
 अंगूठे से झरेगी नहीं रक्त की धार ।
 नहा-धोकर
 मन्दिरजाते समय
 सिर के ऊपर टेलीफोन के तार पर
 कतार में बैठी हुई चिड़ियाँ
 पहनी हुई कमीज को गंदा नहीं करेंगी ।

पर हर समय ऐसा नहीं होता ।
हर 'राहू-काल' के बाद
आती है एक अमृत-बेला
जब चैन की साँस ले पाते होंगे
बड़े आराम से
सीने में दर्द नहीं रहा होगा
न नजर में होगा जालीदार अँधेरा ।
वही मुहूरत सिर्फ होगा अमृत-काल ।।



अत्यइतिहास

संसार की सभी वस्तुओं का
 होता है एक-एक इतिहास ।
 उन सबसे बनते हैं अनेक इतिहास
 हमें पता, सुनकर हो या पढ़ कर
 फिर भी रह जाते हैं अनेक इतिहास
 कुछ-कुछ अनपढ़े, अनसुने इतिहास ॥
 इतिहास की कहानी या किंवदन्ती
 जिसका पता स्वयं इस इतिहास को ही नहीं हातो ॥

मनुष्य का जीवन-काल
 शायद पृथ्वी के इतिहास की
 कहानी श्रृंखला से
 है बहुत छोटा, नगण्य ।
 इतने स्वल्प समय-काल में
 वह कितना स्वप्निल इतिहास नहीं रचता ?
 स्वर्णिम भविष्य के लिए
 रचना है स्वर्णिम साम्राज्य !

भूल जाता है वह
 कि साम्राज्य भी सहसा
 मिट्टी में मिल सकता है।
 डूब भी सकता है
 डूबकर निश्चिन्ह हो सकता है
 गहरे-गहरे-गहरे समुद्र तल में
 जिस तरह डूबी हुई है
 द्वारका अरब सागर में।

सब कुछ चुपचाप।
 न है रव ! न अरब !!
 गहरी निशब्दता के भीतर से
 सुनाई नहीं पड़ता वंशी-स्वन
 समुद्र के अन्दर से या बाहर से।

अनायास ही उछलते-कूदते
 नाचते-थिरकते गीत गाते हुए
 नीनो की ओर बहती वही
 नदी सहसा एक जाती है
 वह जैसे भी खुद रूक जाती है
 या रोक दी जाती है,
 झूठ-मूठ के पौरुष के
 भ्रमित शब्दों के भ्रम में;
 पौरुष की बाजी मारने में।

मानव की स्पष्टित कहानी-श्रृंखला के
 नवकोटिकलवगैश्वर के

गुनगुनानेवाले इतिहास की
मेघ-शून्य ज्योत्स्ना से धुली रजनी में
महाकवि के पुलकित ज्योत्स्ना-विहार की
वह नील जल-धारा की अनिन्दित,
देवलीना महान् नदी
कभी कहाँ कैसे अटक जाती है,
गति हीन हो जाती है कवि की गीतिका
क्या इतिहास को नहीं पता ?
ज्यादा चालाक समझने वाला मनुष्य
क्या जान नहीं पाता ?
आश्चर्य;
दुर्वार नदी किन्तु
दुर्विनीत नहीं बना सकती मनुष्य को !!



अच्छा हुआ जाना क्या हुआ

जाना तो था ही ।
जा भी सकता था आसानी से
लेकिन गया तो नहीं !
कुछ शंख-सफेद चील
कुछ मटमैली चील
चक्कर लगा रही थीं आकाश में ।

अच्छा हुआ
यह सिर्फ सोचने की बात है
शायद हो सकता था
तनिक और ज्यादा ?
या एक दम अच्छा हुआ
जो सब घटित हुआ ।

कब किस भाँति सब घटित होता है
जो घटित होता है या घटने को होता है
सब कुछ लिखा हुआ होता है
काफी पहले से
पृष्ठ-पृष्ठ आकाश पर

आसमानी नीले कागज पर
 सिर्फ तनिक मेहनत करके
 चीलों के पंखों को हटाकर
 दृश्यमान चित्रित अक्षरों को
 पढ़ सकना बाकी है।
 पढ़ना हो नहीं पाता है;
 इसलिए झर-झर झरती जाती है
 विषाद की नदी।

अच्छा हुआ
 मोबाइल का चार्ज खत्म हो गया।
 फोन का टावर नाकाम हो गया
 चाँद को ढाँप लिया मौसुमी बादलों ने।
 बिजली की लाइन भी गुल हो गयी।
 अँधेरे की लहर पर लहर
 पछाड़ खाने लगी समूचे घर में।

सब कुछ तो ठीक था
 सिर्फ एक मौखिक विस्फोरण से
 बदल गयी प्रकृति।
 नहीं, कुछ तो पूर्वापर प्रसंग रहा होगा।
 बिल्कुल कुछ भी न होते हुए
 यहाँ तक कि
 कुछ भी पूर्वापर प्रसंग न होते हुए
 क्या बिजली की आपूर्ति
 रूप हो सकती है ?

जरूर रही होगी कोर्स भूल-चूक
 जिसका पता फौरन नहीं चलता
 अंधकार में टटोलता पड़ता है
 पिछले आलोक को
 रोशनी की विश्वास-भरी उँगली को ।
 जो मिलती नहीं दोबारा
 साँझ की अँधियारी में ।
 लेकिन अच्छा हुआ ।
 पर यह नहीं कह सकते
 कि बहुत ही अच्छा हुआ ।
 इतनी जल्दी ऐसी एक द्वन्द्वात्मक
 असफलता के इलाके में पहुँच कर
 राय देना या अभिमान भरा उपदेश देना
 हो सकता है बिल्कुल ठीक नहीं होगा ।
 राय यदि एक तरफा हो गयी हो !
 एक कोने की हो गयी हो
 ऐशान् हो या नैर्ऋत हो
 हर कोने की कुछ न कुछ डिग्री तो है
 परिमापक-स्केल में ।
 समय-समय पर वही कोने
 हिंस्र हो उठते हैं
 वस्तु में हो या वास्तु-विज्ञान में हो ।।



रात के गहराने से

रात के गहराने से
 क्या-क्या सब घटित नहीं होता रहता है—
 घटित होता रहता है चराचर
 छाँह से भरी अमराई की
 बारीक गीले रेत पर
 सौदागर की बहू की धीमी चाल-सी
 अलक्ष्य में निश्शब्द समय चलता रहता है,
 रात के गहराने से ।।

पहले से अनजाना, अनसुना कोई शब्द
 अँधेरी रात में

कैसा आतंक नहीं फैलता !
 धप-धप धड़कते सीने में
 भय पसर जाता है चारों ओर
 फुसफुसाहट सुनाई पड़ती है— हवा में ।

दिखाई नहीं पड़ते मायाबी दिगन्त ।
ऊपर ताराओं से भरा आकाश
नदी की जल-धारा में किसकी परछाई !
मेरा पीछा कर रही है
मेरे सखा-सहोदरों का,
भाई-बिरादरियों का या किसी और का !

समझ नहीं पाता हूँ कि वे
क्यों मुझ पर इतनी श्रद्धा रखते हैं,
परछाई बनकर लगे रहते हैं
मेरे पीछे-पीछे बराबर ।
बुझे हुए दीपक की तरह
पीले झड़े हुए पत्ते भी
बहते चलते हैं परछाइयों के संग
नदी के दोनों किनारे
परछाइयाँ चलती रहती हैं
मेरे साथ आगे और पीछे ।

ऊपर ताराओं से भरपूर आकाश ।
इन सब ताराओं ने क्या देखा नहीं है,
पढ़ा नहीं है
मायाम पृथ्वी की अँधियारी रात में
विश्वास खोये हुए मानव के
आँसुओं से भरा वेदना का इतिहास ?

पुराने हरसिंगार पेड़ के यमल डालों पर
कई दिनों से नीड़ बनाकर बसे हुए
बनैल पक्षी-युगल
कौन-सा सपना देख रहे होंगे
इस रात में !

क्या देख रहे होंगे
आशीर्वाद से भरा
संभावनाओं का एक प्रभात
एक उपत्यका आलोकित, आलोकित !



नदी का अंतरा

क्या नदी गीत गाती रहती है
जन्म से लेकर
अनन्त में विलीन होने तक
अहर्निश-अहर्निश।

नदी का क्या मुँह है
जीभ है
या गीतिमयी श्रावणी-सी
एक लम्बी गरदन
या फिर शीशे की पिटारी में
अठखेलियाँ करती
विदेशी छोटी लाल मछली-सी
लाल गुलगुल पतला होंठ।

लेकिन नदी गीत ही गती है।
जिसे कभी जाना नहीं था
आज ही जान सका।
उदास दुपहरिया में पेड़ की छाया के तले
विषाद नदी के किनारे बैठ
न जाने कैसे सहसा सुन पाया

नदी का वह नैसर्गिक गीत
जो सीने को चीरते हुए
बिंध रहा था कलेजे तक
रिस रहा था बूँद-बूँद रक्त ।

वह गीत था बेहद करुण
किसी बेटी के पैदा होते ही
फटे चीथड़ों में पोटली बाँध
नाली में या सड़क के किनारे
फेंक देने के बाद
उसके हठीले रूदन का जो असहाय तीव्र स्वर
वैसे ही हिचकी भर-भर कर
रो रही भी नदी
मानो कह रही थी :
यातना की सौरी से निकलते ही
मेरे सीने पर
बेशुमार पत्थर पटक कर
बैराज बनाकर
रूँधो मत
मेरा जीवन-प्रवाह ।
जीने दो मुझे
जिससे मैं छन्द में
या छन्द के पतन में
बह सकूँ प्रस्रवण शैल को लाँघ
छूने के लिए
मेरे नीलाम सपनों के समुंदर के
गहरे आलिंगन को ।



नदीनिस्तर

वही
वही यह नदी
जिसके अन्दर और बाहर
मैं जीता रहा
तमाम उम्र ।

उसके उजान स्रोत की
छोटी-छोटी लहरों में
उसके अथाह
दुलहिया सपनों की गहराई में
पतवार थामे, डाँड चलाते हुए
उसकी मझदार से तट की ओर
फिर तट से
मझधार की तृष्णा की ओर
खेता रहा फूल की नैया
अनेक काल तक ।

वही यह मैं
 जिसके अन्दर जीवित है
 वह नदी
 अलसाये हुए सपनों के चुनींदा कपोत-सी ।
 सोई हुई है
 रूप-रंग हीन अरूप की सत्ता में
 किसी अति प्राचीन बादशाही रात की
 निराधार कहानी के अनिशेष आलाप-सी
 सोई हुई है नदी
 नींद से सराबोर
 भींगी-भींगी अखियों की पलकों में ।
 अब इस अनारवर्णी दार्शनिक सूयस्ति की
 पहली किरण में
 अब ही सबकुछ समझ लेने का
 वक्त आ पहुँचा है ।

अब तो कुछ-कुछ
 जीवन के व्यासकूट का भावार्थ
 समझ में आ रहा है
 क्षितिज की घण्टा-ध्वनि में ।
 नदी अब नहीं खोजती
 उसके पीछे छूटे हुए
 कदम्ब-वन के संगीत को
 वन भी नहीं खोजता नदी को ।

खोजबीन चलने वाले
इस श्रेयहीन, प्रत्यय हीन जगत में
बिना खोजे हुए रहजाना
कितना अच्छा है।

फिर भी न जाने क्यों
देर-सबेर या सपने में
सुनाई पड़ती है
नदी की गुपचुप बातें
उसके सम्मोहित गीत
सारंगी की बेहद करुण लय सहित।



दे, दे, शब्द नहीं पानी दे !

अभी ध्वनित हो रही हैं— ध्वनि, प्रतिध्वनि
 तरंगायित, तरंगायित ध्वनि की तरंगे
 तैरती जा रही हैं दक्षिण से पश्चिम
 और पूरव से उत्तर की ओर ।

तैरती जा रही हैं
 कलिंग, कोशल, उड़-उत्कल
 सारे ओड़िशा के गाव-ज्वार, वन-अरण्य में
 नगर-नगर और महानगर की
 सड़कों में । नुक्कड़ और गलियों में
 तरंगायित वही एक ही स्वर
 दे, दे, जल दे
 दे, दे, पानी दे ॥

हाथी मांग रहे हैं पानी घने जंगल के अन्दर
 बाघ माँग रहे हैं पानी सूखे झरने के तट पर
 हिरन, बंदर, तोता, मैना, तीतर, बटेर
 सभी जाति के पक्षी

खोज रहे हैं निर्मल-उज्ज्वल
 कमल भरे पोखर में
 छाया-शीतल जल
 पानी अंजलि भर-भर !
 वृक्ष-लता हीन उजड़े जंगल में
 पानी कहाँ है ?
 जल कहाँ है ?
 गायब है सारा पानी
 कारखानों की चिमनी के धुँए में ?

अभी तो है चुनाव की प्यास !
 कड़्यों की सुलगती आँखों में
 अभी तो निर्वाचित होने जा रहा है
 कोई एक अर्वाचीन
 कह तो रहा है कि खोल देगा त्याऊ
 आषाढ़ के महीने में
 कह तो रहा है कि
 ऋषिकुल्या नदी के मुहाने से
 जल निकाल कर
 धो डालेगा शिव-चत्वर
 महेन्द्र-तनया-गिरि-शिखर !!

'सातकोशिया गंड' से पानी लाकर
 निटाएगा सम्बलपुर व ब्रह्मपुर की प्यास !
 बलांगीर होगा जल भण्डार का देश ।।।

इतना नजदीक है समुद्र !

फिर भी

नजाने कैसे गिरती नहीं

शताब्दियों से जनता की प्यास ?

खून लिया, आँसू लिया, स्नेह लिया

अर्थतत्त्व के उन्मार्गी चाल से

मीलों-मील महल बनवाये

एक-एक कालापान बादशाह

लालपान बादशाह बन गये !

क्या कभी समझ में आयी तुम्हें

तृषित ओड़िशा की अन्तहीन चीख

और अनिवारित प्यास !

या सिर्फ प्रतीक्षा, प्रतीक्षा में

एक बन्दरगाह की मैप ड्राइंग

फिर सपना और अफसोस ?

आश्चर्य ! नजाने क्यों खत्म नहीं होती

पृथ्वी के गणतांत्रिक इतिहास से

हमेशा के लिए चुनाव की यह नौटंकी

या खत्व नहीं होते अँध गणतंत्र के झूठे वादे

या उम्र निर्वाचित की ?

इस तरह समय के बीतते जाने के बाद

फिर आएगी शायद चमचमाती तलवार लिए

‘मा धूमावती’, खून की पिचकारी छोड़ते हुए
आएगी ‘माँ छिन्न मस्ता’ !

तमाम आकाश में फैल जाएगी

काली केशवती घन मेघमाला

फैल जाएगी आकाश में विधुत की रोशनी

तरंगायित होगा ऋषिकुल्या, महानदी

हिराकुद का पानी;

चिलिका झील का नीला-नीला जल

तृषार्त के ज्वलन से

जल उठेंगे जंगल, पहाड़

जलेगा ओड़िशा;

आयेगा, नाचेगा, थिरकेगा आँधी का मौसिम

हर कंठ से उभरेगी निशब्द आँधी की झंकार

दे, दे, जल दे

पानी दे !

आँधी और आँधी की झंकार ।।



शून्य-आवाज

कहीं से एक आवाज आ रही है ।
 ठोस, साबूत ।
 जरूर कोई आवाज ही है
 न जाने कहाँ से आ रही है ।

चारों तरफ छितराते हुए
 सुनाई पड़ रही है
 एक उड़ती-सी आवाज ।
 किसी तूफान की तेज हवा-सी आवाज
 यह कैसी है निराली-न्यारी आवाज ।।

क्या यह आवाज आ रही है
 अभी-अभी उमरे
 किसी दूर नक्षत्र-मंडल से !
 झिलमिल उजास से मन मोह लेने वाले
 सुन्दर 'तारा' ओं के गहरे नाभि-केन्द्र से ?
 या फिर यह किसी उत्साह की
 गजल का कोई मिसरा तो नहीं ?

शायद हो 'अंतरा' भी
 अनन्त आकाश में छिपे
 किसी अपरिथिव मंदिर के
 घड़ियाल की आवाज भी !
 किसी निर्जन पहाड़ की गुफा से
 तरंगायित प्रतिध्वनि बनकर
 आनेवाली किसी भौतिक की
 या अलौकिक भ्रम्-भ्रम् की आवाज भी ।

शायद ऐसा कुछ भी न हो ।
 गाड़ी के एँजिन में
 हो सकता है कहीं मैल आ गया हो ।
 घूँ-घूँ, चड़-चड़ की आवाज के साथ
 गरज रहा हो एँजिन ।

ना, शायद बोरवेल से
 पानी खींचनेवाली
 मशीन की आवाज हो ।
 इस धरती की सतह के नीचे
 कहीं तो पानी नहीं
 पानी ऊपर खिंचेगा भी कैसे ?
 सिर्फ मुट्ठी भर
 भूखे, घायल आवारा कुत्तों की
 भौं-भौं-सी आवाज ।

ना, ना, यह आवाज
 शायद वही दूरवर्ती,
 निकतर, हनुमान् मंदिर के
 ताबड़-तोड़ सीने पर टकराती-सी
 घण्टे, घड़ियाल, ढोल, तुरही की आवाज हो ।

पर इस धनी,
 गहरी सुनसान रात में
 क्या पुजारी आरती उतारते हैं
 भगवान की ?
 या फिर घण्टे, घड़ियाल, ढोल
 सब बज रहे हों
 श्री श्री हनुमान के कोप से ?
 पर खूब गौर से
 मन लगाकर सुनें
 तो सुनाई पड़ता है
 जैसे पोलाभरम्, पोलाभरम् !!
 कोलावारी...कोलावारी-डी
 के गाने की धुन पर ॥

हे ! नदियाँ
 तुम सब हो कौन ?
 स्वयं भगवान हनुमान के
 आत्म-रूप ?

इन्द्रदेव के सहस्र-सहस्र
कृपा-ज की
अजस्र-अजस्र धारा ?
क्या यह मुहाना ! जल भण्डार ?
जहाँ हर पल
मानवता का कल्ल होता है
क्या कोई जानता है
कि पोलाभरम् दैत्य है
या प्रेत या स्वयं भगवान ?

कौन जाने
पोलाभरम् के लिए दोनों सरहदों पर
चाहिए कितना ताजा खून !
गैलन-गैलन ।।



महारानी

उस घनी गाढ़ी रात में
 आकाश को चीरती हुई
 वह आयी थीं।
 एक इंद्र-धनुषी रंग के
 मेघ-पक्षी की पीठ पर सवार हो
 शताब्दियां को
 पार करते हुए
 परत-दर-परत गाढ़े कुहासे के समुद्र को।
 वह आयी थीं,
 कभी सूर्यास्त न होनेवाले देश की
 राज-राजेश्वरी
 रानी एलिजाबेथ।

कहा:

मैंने भेजा था मेरे दूत को
 जलियाँवाला बाग की
 खून से लथपथ चट्टान पर

घुटने टेक कर प्रार्थना करने को
कृत कुकर्म के प्रायश्चित के लिए,
प्रभु, ईस के सामने ।

भेंट हुई थी ?

महाशशया—

यह आदेश, यह गद्गद् प्रार्थना
क्षमा-याचना की बंकिम भूलता
इन सभी कुंचित-लहरायित
पहाड़-सी नृत्य-मुद्रा
और अभिनय के पीछे;
है तो नहीं !

एक और जालियाँवाला बाग का
गुप्त षडयंत्र ?
हम तो अंध हैं
हम तो पगला गये हैं
उस उजले गोरे चमड़े के
मछुवा-गंध से ।

हम तो थे

आपके नौकर, दासानुदास
प्रेम के नहीं, रागानुराग के नहीं
या भक्ति के नहीं
सिर्फ

एक रोंगटे खड़े करनेवाली
दहशत के।
आजादी के पाजामा और कुरते में
अब भी हम नौकर हैं
बादामी रंग के हाकिमों के,
अपने ही देश में।
रानी मुस्कराई या रोई !
पर समझ गयीं
कि अपराध का प्रायश्चित्त
पूरा हुआ नहीं है
कभी भी पूरा हो नहीं सकता;

सहसा मेघ-पक्षी की
पूँछ घूमी इक्यावन डिग्री में
रानी गायब हो गयी आसमान में ।।



अर्जुन की आँखें

हमें दिखनेवाली निखिल वस्तुएँ
 शायद ठीक वस्तु नहीं हैं !
 या ठीक-ठाक वस्तु को हम
 ठीक से देख नहीं पा रहे हैं
 सठीक दृष्टि से ।।

अन्तर्दृष्टि तो कहती है
 यह सब मोतियाबिन्द से पीड़ित दृष्टि की
 रंगीन तितली है
 नीले पानी पर डोलते हुए
 लाल-लाल कुमुद !

सच में यह अन्तर्दृष्टि
 काश ! अर्जुन की आखें होतीं ?
 पहचान हो जाती
 कि परमशत्रु कोई नहीं है
 इस धरती पर ।
 यही शायद जीवन की मरीचिका का

प्रतिपाय सत्य है।
सिर्फ दृष्टि का प्रभेद है ॥

दृष्टि के प्रभेद से तो
तत्त्व का प्रभेद होता है !
रस्सी को साँप नहीं सोचा होता;
तो क्या इतने बड़े ज्ञान के दर्शन
मिल पाते इस मानव को ?
इन दोनों सत्य के बीच
यद्यपि सबकुछ है आपेक्षिक
जाने कैसे प्रखर गति से
स्रोत के बीच में मछली-सा
या एक छोटे, सुन्दर जलचर जीव-सा
स्रोत को चीरते हुए
बढ़ रहा है आगे की ओर, जीवन,
ठीक अपने ही रास्ते से ।

पीछे लौटने से क्या मिलेगा उसे ?
पीछे लौट पाना क्या संभव है ?
एक प्रलय के बाद
शायद हो एक और नयी सृष्टि
लेकिन पीछे लौट कर नहीं ।
प्रलय के बाद प्रलय, फिर प्रलय
अवतार के बाद अवतार, फिर अवतार
केशव धृतं,
मछली से लेकर कल्की तक ।

कभी-कभी ऐसा लगता है
 कि एक लहर निकली समुद्र से
 फैल गयी समुद्र के समूचे तट पर
 घुटुरुन चलते हुए
 खुद ही खुद को समेट कर;
 फिर लौट गयी
 समुद्र के अंदर ।
 फिर जो लहर आती है,
 फिर आती है, फिर आती है
 वह नदी है पहली वाली लहर !
 नये समय की, नये पानी की
 लहर होती है वह ।

'पीछा' को पीछे धकलते हुए
 'आगा' डग भरता है
 आगे की ओर, आगे की ओर ।
 मुस्कान भरे होठों में आकाश !
 लहर पर लहर, फिर लहर ।
 विश्राम कहाँ है इस समय को,
 अर्जुन के देखे हुए दृश्य को ?



नदीसे होकर समुद्र समुद्रसे होकर नदी

नदी चल रही है
टेढ़ी-मेढ़ी चाल से
थरथराते डग भरते हुए
मानो लिपट गयी हो
तमाम बदन से मेरे;

उस विषण्ण नदी के
कल-कल निनाद का
खेल है उठा-पटक का।

नदी का यौवन;
खूब देख चुकी है, सुन चुकी है,
सुबह-सुबह की बेसुध कुहूतान !

अस्त क्षितिज के
मस्ती भरे कलरव के
अनभूले गान।

नदी में छिपी हुई है अँधियारी
 कभी-कभी औचक
 बन जाती है रात ।

रात भी नजाने कैसे
 हो जाती है बूढ़ी
 इतनी जल्दी !
 कोई कैसे जान भी नहीं पाता ।
 दिन के लंपट प्रकाश के
 अत्याचार से
 बूढ़ी रात की मांसपेशियों में
 कैसी पीड़ा पसर जाती है-
 कोई समझ ही नहीं पाता
 रात भूल जाती हैं
 भोर के प्रकाश में ये सारी बातें ।
 गली-कूचों में मधुशाला की
 मधुर भैरवी
 गाना और बजाना
 रात याद नहीं रख पाती ।

नदी बहती जाती वैसी ही
 अलसाये हुए कदमों से नचनिया-सी;
 सारे बदन पर लपेट कर
 तारे और सितारों की चमचमाती साढ़ी
 चाँद की झूठ-मूठ की चाँदनी ।।



चों ही कुछ नाम देने के बारे में

हर नदी का एक नाम होता है
 शायद भूगोल पढ़ने की सुविधा के लिए
 या देश-विभाजन की सुविधा के लिए
 या युद्ध-विराम की सीमा रेखा के लिए ।।

नदी-किनारे के लोग
 नदियों को नाम देते हैं
 भिन्न-भिन्न किस्म के ।

किंतु कभी भी उसी नाम से
 नदी को नहीं पुकारते ।
 नहाने के लिए जाते हैं,
 तो कहते हैं—
 नदी की ओर जा रहा हूँ ।
 वह नदी जो भी हो
 जो भी उसका नाम हो ।
 उस समय नदी
 सिर्फ नाम न होकर
 सर्वनाम हो जाती है ।।

उस भाँति
 सभी मनुष्यों का नाम होता है ।
 पालन जानवरों को, पक्षियों को भी
 नाम दिया जाता है ।
 फलों को भी
 किस्म-किस्म के फूलों के
 अलग-अलग नाम हैं
 विविध साँपों के, मेढ़कों के
 भिन्न-भिन्न नाम हैं
 करीब-करीब हर जीवजन्तुओं का
 कुछ न कुछ नाम होता है ।
 वैसी ही नाम होते हैं
 देवी-देवताओं के
 वे लकड़ी के क्रॉस में
 झूलते रहते हों
 या बरगद के पत्ते पर
 बहते रहते हो ।
 पर समूचे संसार में
 असली नाम होता कहाँ है
 हम लोगों को नहीं पता ।

जिन्हें पता है
 वे हमारे पास होते नहीं है ।
 वे होते हैं कांचन जंघा
 या ऐवेरेष्ट की तरह
 बर्फ की गुफाओं में

गंगोत्री की
तुषार भरी पहाड़ियों में
वे हवा में हवा बनकर रहते हैं
प्रकाश में प्रकाश-कण होते हैं
'बरगद का पत्ता' या जहाज
उनके लिए सभी समान हैं।

हम वहाँ जाएँ
तो देख नहीं सकते इन्हें
वे लेकिन देख रहे होंगे
अपलक नयनों से हमें
और मुसकराते हुए
सोच रहे होंगे
कि आये हैं
नामधारी महाराज !



अल्हड़ बचपन

बचपन की सारी बातें
क्या किसी को कभी याद रहती हैं ?

जिस तरह आषाढ़ की पहली वर्षा का जल
लाल मिट्टी के इलाके में सूख जाती है
देखते ही देखते वर्षा रूकने पर,
जमीन की सतह के नीचे
जो जमीन जकड़कर रखती है
समय के ढेर को
समय का अणु-परमाणु समझ कर-
यदि कुछ है;
वह खुद की आत्म-निर्जनता में ॥

कभी-कभी मिट्टी को फोड़ कर
मिट्टी के नीचे से बाहर निकल आता है
दीमक के बमीठे की भाँति
लाल-लाल चेरी के फलों की भाँति
अल्हड़ बचपन ॥

बचपन ! जो बढ़ता है कोमल
उदित सूर्य-सा धीरे धीरे

फीके लाल अबीर से सना हुआ
जीवन्यास मंत्र से अभिषिक्त लाखों बार
सच में एक जीवंत चित्र !
निरा एक चित्र, अहा,
अल्हड़ बचपन ।।

सोने का सूप, चाँदी का सूप
या बाँस का सूप हो
जीवन की सारी हताशाओं को
पछाड़ते-पछाड़ते
सारी धूल उड़ जाती है,
मिल जाती है
समायान्तर की धूल में।
जो समय सोया हुआ होता है
बेहोशी की नींद में
ईश्वर की कणिकाओं के अदृश्य लहर में
रह जाता है सिर्फ अकेला
निहायत एक-अकेल
जाल में फँसी छटपटाती मछली-सा
रोता-बिलखता अल्हड़ बचपन
जैसे पूनम की रात का
बादलों से घिरा एक विषाद चाँद !
खोज रहा है हम सभी का
भोर के तारे का स्वप्न
लाल-लाल चेरी के फलों-सा
अल्हड़ बचपन ।।



पाताल

मिट्टी के हटा देने से
 भूतल ।
 खरोंच देने भूतल को
 शायद पाताल !

सुना था
 नानी माँ या दादी माँ या वैसी
 दुलार भरी अधेड़ उम्र की
 माताओं से—
 पाताल में होती है
 बेला के फूल की
 खुशबू भरी सुबह
 खुशबू भरी रातें
 सदैव नीली चाँदनी का कोमल प्रकाश ।

इस पाताल में कौन जा सकता है ?
 वह नन्हीं-सी लड़की !
 जो खरगोश के पीछे भागते-भागते

सहसा धँस गय भूतल में
 और पहुँच गयी
 उस विस्मय भरे देश पाताल में ।।

पृथ्वी की तरह
 वहाँ आकाश था या नहीं
 नदियाँ थी या नहीं
 शायद हारमोनियम से सुर मिलाकर
 गीत गा रहा था पवन
 औरथे कई आश्चर्य और ऐश्वर्य !

पाताल में और कौन जा सकती है ?
 अयोध्या की शोकार्णवा महारानी
 अनेक कुत्सित निन्दा की
 अनिन्दित देवी सीता ठकुरानी ?

जिनकी आखों में छलछलाता रहता
 समुद्र का अभिमान
 जिनके स्फुरित होठों से सुनाई पड़ती
 रुद्र-वाणी की ध्वनि
 नासिका से प्रवाहित होता अविरत
 वासुकी का निःश्वास
 जिनके केश के गजरे में होती
 अरण्य की निर्जनता,
 अशोक की वीथी की छाँह

जिनके अन्तर्लीन हृत्पिण्ड में होती
 धधकती ज्वालामुखी
 जलती है और जलाती रहती है
 सोने से मढ़े देश को ।।

पाताल यानी क्या ऐंटिपोड ?
 ऐंटिपोड होता कहाँ है ?
 पाताल कहाँ होता है ?
 गोल-मटोल पृथ्वी का ऐंटिपोड यानी-
 हम तो समझते हैं सचराचर;
 एक है प्रवेश-द्वार दूसरा प्रस्थान द्वार ।
 लगता है सचमुच
 'माँ' की गोद में 'मिट्टी' की गोद पर ।।



शाबेरी, शाबेरी, शाबेरी (नदी-पर्व)

पृथ्वी की एकड़-एकड़ उर्वर
 नदी-पठार की जमीन को
 जात कर खेती करके मानव ने
 जिस सोने की फसल को उगाना चाहा था
 उसे क्या पता था !
 उस शस्य के बीज में कैसे मिल गये थे
 प्रेम और घृणा के दाने !
 जिस समुद्र ने अपने गर्भ में रखा था अमृत
 उसी के गर्भ में ही था गरल ।

देवताओं के अन्दर दानव
 दानव के अन्दर भी देवता,
 इसे जिसने बनाया है
 उसी का नाम है भगवान ।

इतिहास ने क्या नहीं सिखाया मानव को !
 नाव बनाकर
 भयंकर प्रखर गतिशील नदी को
 पार करने का कोशल ।

नदी की अबाध गति-धारा को रोक
 उससे छीन लिया है उसकी अमाप शक्ति
 पानी, हवा, आग, मछली, केंकड़ा,
 यहाँ तक कि किसी-किसी नदी के गर्भ से
 घर ले आया है
 भर-भर कर सोने की रेत के बोरे,
 जैसे कोरापुट की 'कोलाब नदी'
 जिसका प्यारा नाम है शाबेरी । ।

'सिलेरू' एक और नदी
 उसका पिछला नाम था शायद माछकुण्ड ।
 माछकुण्ड का भैरव रूप आप देख सकते हैं
 'डुडुमा' प्रपात की जल-धारा में ।
 माछकुण्ड ने क्या नहीं दिया है ओड़िशा को ।
 खुद को अँधेरे में रख कर
 आलोकित किया है राजधानी को ।
 अपने उदार गुणों से
 आलोकित भी किया है पड़ोशी राज्य को ।
 'शाबेरी' और 'सिलेरू' स्वर्ग से उतरी हुई
 दो बहते हैं । दक्षिण ओड़िशा की मन्दाकिनी ।

प्रभु श्रीराम की पद-रज से जिसके मार्ग में
 फैली हुई रेत का कण-कण बन चुका है स्वर्ण ।
 और जिसके पावन स्पर्श से शापग्रस्त गोदावरी
 हो चुकी है धन्य ।

उसी 'शाबेरी' को क्या किसीने देखा है ?
 'सदानमंगलाचरणम्' की प्रार्थना को लिये
 जिन्दगी बनाने वाले
 सारे खदान-मालिक
 अब खोज रहे हैं 'पोलाभरम्' कहाँ ?
 'शाबेरी' नदी को न देखने वाला गण-देवता
 ढूँढ़ रहा है गोदावरी के तट का पोलाभरम् !
 पोलाभरम् को न देखने वाला आदमी
 खंगाल रहा है इतिहास को सचिवालय में
 ढूँढ़ रहा है राजा कपिलेन्दु का कैकाल !
 ऐर खारवेल का धुंध भरा भोर
 छलछलाते आँसुओ का सुनसान दुपहर
 'गंगा से गोदावरी तक' बासी गोबर की लिपाई
 है एक किंवदंती ! या धुन लगे झूठे शब्दों से बना
 उत्कल का इतिहास ?

चिरकाल से दुःखी है ओड़िशा का भाग्य-लेख !
 उस दुःख को कब तक
 ढाँप कर रखेंगे कम्बल, कथरी
 अँधेरी-कोठरी में
 सचिवालय के चतुर प्रहरी।



जो नदी दिखाई नहीं देती

ढेर सारे बातों को बिसरना पड़ता है
जिन्दगी के दौरान
या खुद ही बिसर जाती हैं।

तितली
मँडराती जाती है
फूल से फूल पर
कैसा फूल, कैसा रंग, कैसी महक
बादामी-बादामी या हरे आँवले के रंग का
या सफेद, स्वेत टगर या पीला कनेर
कुछ याद नहीं रहता उसे।

किंतु यह सच है कि रंग हो या गंध
फूल उसे खींच लाया था
अपने पास अपना बनाकर।

विश्वास है मकरंद से भी मीठा
टूटे आईने की तरह टूट जाए विश्वास
तो मकरंद, मरल से भी भीषण विष।

ऐसी बातें क्या कोई भी पढ़ सकता है
इतिहास के पन्ने पर पन्ने के
टूटे काँच के टुकड़ों से
रिसते हुए बूँद-बूँद खून से ।
पाल चढ़ाते हुए नाव
बहती जा रही होगी
दूर और दूर
बिना बंदरगाह के एक समुद्र के भीतर ।
सूर्यास्त से चमत्कृत क्षितिज
लाल ही बनाहुआ रहेगा ।



कब, कहाँ, किससे भेंट !

कोई न कोई तो
 ढूँढ़ता है किसी न किसीको !
 समझ में नहीं आता ।।
 कोई न कोई ढूँढ़ रहा था कभी
 किसी न किसी को
 याद नहीं आता ।।

रटते-रटते, बचपन के रटे हुए
 सारे पहाड़े
 कुछ याद हैं, कुछ भूल-से गये हैं।
 याद रखना और भूल जाना
 किसी क्रिया और प्रतिक्रिया का
 मायावी खेल हो।

इन सब को कोई एकतो नचा रहा है !
 अनदेख सूत, अनदेखे हाथ से बराबर।
 हम भी अभ्यस्त है नाचने में
 भिन्न-भिन्न अदाओं में
 उसकी उँगली की नोक के कौशल से ।।

हमारी चाँदनी रात-सी जिन्दगी को
 कभी-कमार यों ही
 ढाँप लेते हैं मौसम के लौटते बादल
 टूटे-फूटे जर्जर मन्दिर के
 निश्चल, स्तब्ध घड़ियाल-सा
 हम केवल पड़े रहते हैं
 यों ही निश्चल ।।

अपनी जिन्दगी की सबसे प्राचीन
 छवि कौन-सी हो सकती है ?
 वे सारी छवियाँ रंगीन हों
 या सादा काले सफेद हों
 कभी कोई क्या चाहेगा
 चश्मे के मोटे शीशे को पोछते हुए
 देखना उन सारी जल-छवियों को
 अतीत की प्रतिमाओं को !
 आलोक हीन लुप्त नक्षत्र के इतिहास को ?
 अभी-अभी क्या सचमुच
 ढूँढ़ रहा है कोई फिर एक बार
 हो सकता है छलना से !
 वह किसी टूटे किले की महारानी
 या वह दीर्घतम विदेशीनी,
 समुद्र के उस पार जिसका घर है !
 या शायद हमारे आपस में चाहनेवाले
 कई जंगली पक्षियों का स्वर !
 वैसा न होता तो कोई क्यों ढूँढ़ता

इस कब्रगाह की ओर जानेवाले
रास्ते के चौक पर; मुझे फिर एक बार !

अभी-अभी शायद ढूँढ़ रहा होगा दूधवाला
उसके पावने के लिए।

शायद ढूँढ़ती हो कामवाली
कामिनी अम्मा घर बुहारने के लिए।

शायद ढूँढ़ रहे हों
सामने के जेल की दीवार के उस पार
भारी-भरकम बरगद के उस पार
नीड़ बनाने वाले कौवों के झुण्ड के झुण्ड
जूठें बरतनों को।

कोई और ढूँढ़ सकता है
कवि रमाकांत रथ की 'अनेक कोठरी' के
झरोखे के पास बैठी हुई निरीह मैना को ?

कोई और ढूँढ़ सकता है
इस मेघ विहीन अपराह्न में !
कब्रगाह की ओर
जानेवाले रास्ते के चौराहे पर
मुझे फिर एक बार ?



नदीसे नदी की बात

ना, ना, तू बिलकुल नहीं है-
 दुनिया की कोई नामी-गिरामी नदी
 जिसे विज्ञापित करता आ रहा है भूगोल
 पिघलाये गये सोने के अक्षरों से जकड़ कर
 उसके अपने खुले-फैले पन्नों में

तू कितनी छोटी-सी नदी है सच में
 इस धरती की सर्जना में ।
 तंग, सँकरीला, टेढ़ा-मेढ़ा
 तेरा यात्रा-पथ ।

गेरूआ रंग के फ्रॉक में एक नन्ही-सी लड़की
 मानो भाग रही हो किसी दौड़ प्रतियोगिता में
 धीरे-धीरे, हौले-हौले बहने वाली हवा की गति में ।

रात के रुदन में खोया नहीं है उसने
 अपने आप को बारहमासी-विरह में ।

खूब उज्ज्वल, ऊर्जा भरी भोर के
 दल के दल बतैल पक्षियों की
 अवाक् प्रार्थना सुनते हुए
 नदी बढ़ती जा रही है स्वप्न-हीन
 अनजाने इलाकों में
 अनपहचान गाँव-जंगल, खेत-खलिहान,
 हाहाकारमय शहरी मुल्कों में ।

ए...ए नदी
 इतनी छोटी-सी नदी है तू
 कैसे जी रही है बिना सपना देखे मुद्दत से !
 तेरे तट-तट में तो स्पन्नो से घिरे
 नीले पहाड़ों की माया
 जिन पहाड़ों की कोख में
 कहीं चिपी रहती है नील विश्वात्मा ।

इतनी धनी, इतनी गहरी-गहरी हरियाली
 कतार-कतार अरण्य की छाया का इंद्रजाल
 तेरे सीने पर तैरता है,
 जिस पर जाती है और आती है
 एक त्रस्त टूटी नैया में
 पराशरीय कुहासे की सुबह
 आतंकित है कपाल ।

तेरी आँखों की पुतलियों की समाहित
तिर्यक प्रायोजित दृष्टि छू नहीं सकती
इस मूक आकाश के धूर्त मेघों को कभी भी ।

मायांध मेघ

छू नहीं सकते नदी की वेदना-बिद्ध आत्मा को
नदी समाप्त हो जाती है धीरे-से
सबसे आखरी बिन्दु में ।



दक्षिण भारत की नदी

॥ १ ॥

निथरता होती है
हमेशा हर जगह ॥

‘व्याकुल अनुभव की नीरवता में
होती है जिस निष्पन्द अनुभूति की
स्पंदित गुंजन,
ओंकारमय भ्रमर
पत्थर के शरीर में भी
बन सकता है उससे विवर,
उस विवर से
झरता रहता है निरंतर
सदियों के गीतों का निर्झर ॥’

॥ २ ॥

कृष्णा
कावेरी और
गोदावरी सब हैं
एक-एक नदी का नाम ।

भिन्न केवल मिट्टी की सेज
दक्षिणी हवा के आलिंगन से
थिरकते जल की करुण सारंगी का गीत ।

खाली आँखों से
या कल्पना की आँखों से
सब कुछ तो कल-कल छल-छल
सरकती लुढ़कती नदियाँ है ॥

अब देखते हैं,
खुली आँखों से नदियों को
कृष्णा एक आदिवासी लड़की है;
कावेरी
कर्णाटक की राजवधू लावट्यवती ।
और गोदावरी
न जाने कितने दूर तक
पसरा हुआ है फैलाव
नीले जल का फैलाव ।

विभोर पवन के आलिंगन से
थर-थर आलिंगित लजीली लहरें ।
उस पर काले, मटमैले धूसर रंग की
छोटी-छोटी कश्तियों
उन पर मँडरातीं
शुभ शकुन वाली
शंख-सफेद चील

कतार-कतार दक्षिण के पक्षियों के
गले का सुमधुर तेलगू संगीत ॥

देखने से लगता है क्या
कि यह है एक नदी !
या कुछ और ?
नाम कुछ भी हो ।
घर से बिछुड़ी
शायद कोई अभिशप्त नारी ?
रोते बिलखते
आँसुओं की अखण्ड धारा बन
बन गयी है खुद एक नदी ॥

॥३॥

सारे सपने खत्म होने के बाद
बच जाता है जो कुछ अंधेरा
वह सिर्फ रोते हुए
वेदना भरे पान-पात्र से उतर कर
आँसुओं की धारा
बह जाती है नदी बन कर
जाने कितने दूर
अनजाने संकेत का दीपस्तंभ
जल-तरंग की ध्वनि से
'जलसा' गाह का
नील सागर ॥



बीस साल बाद

कल देखा
बीस साल बाद
तुम्हें ।

बिलकुल कुछ नहीं बदला है
सिर्फ
चश्मे के अलावा ।

निरीहता
“कुछ और हो नहीं सका
जिन्दगी में” – ऐसी कुछ
अतृप्ति
बह गयी थी वर्षा जल में ।

कुछ नहीं बदला था
किसीका
तिनकों से बना संसार ।
सिर्फ
तनिक अजीब-अजीब सा लगा ।
पुराने दिनों का अंधकार ।

बन्द लिफाफे-सा
 इतना ज्यादा चुपचाप होंठ
 सूखे कुएँ की लम्बी अंधियारी-सी
 कितनी ज्यादा गहरी निगाह ।
 सूनी खोखली हवा की नीख रागिनी ।

लगा कि
 हड़बड़ी में
 मानो मैं पढ़ रहा हूँ
 शंकराचार्य के दार्शनिक तत्व
 मोह मुद्गर के
 पंक्ति-पंक्ति भाव-क्लिष्ट-श्लोक ।

कुछ नहीं बदला है कल देखा
 सब कुछ ज्यों का त्यों ।
 सिर्फ
 लम्बी दिख रही हैं
 परछाइयाँ सारी ।
 रोशनी दिख रही है
 धीमा पड़ी लालटेन-सी
 सब कुछ ज्यों का त्यों ।

वही हवा
 वही परिचित निःश्वास
 वही विह्वल आरण्यक केश
 सँवारे गये नाखून, हाथ, पाँव
 सब कुछ साफ-सुथरा,

धोबी के घर से आयी हुई
इस्त्री लगी साढ़ी की तरह
निर्मल
जैसे बादल छँट जाने पर
बरसात के बाद का आकाश-
शून्य नील, निर्धन !
अंजलि भर हल्का पवन ।



निष्क्रमण

सपने में देखा 'गरुड़ पक्षी' जैसा
 या उससे समृद्ध एक बड़े
 इंद्रधनुष-रंग के
 पक्षी की पीठ पर बैठ
 मैं उड़ता जा रहा हूँ-
 देखो, उसी मुकुटनुमा पगड़ी पहने
 जादूगर के साथ ।।

कहाँ जा रहा हूँ ?
 क्या तुम जान सकते हो, बता सकते हो ?
 यहाँ तक कि तमाम धरती पर
 ऐसा कौन-सा आदमी है,
 कह सकता है, बता सकता है
 कि कहाँ है वह देश ?

क्या मैं जानता हूँ ?
 जानने के लिए तो हैं
 ढेर सारी साधनाएँ
 ना, जान नहीं सका ।

समूचे रेगिस्तान में पैरों के निशान
कैसे पता चले कि
कौन-सा रास्ता किस तरफ है !

जादूगर तो जादूगर ।
अपनी इच्छा से आता है, वह ।
चतुराई से ।
जाता है अपनी इच्छा से
कभी लकड़ी, कभी लोहे से बने रथ पर
कभी जंगली जानवरों की पीठ पर,
कभी-कमार पक्षियों की पीठ पर ।
मुझे ले जा रहा था
कहीं न कहीं !
एक लोमश ममता के गहरे आलिंगन में ॥

अब मुझे शशयद
वह ले जा रहा है
उस खूबसूरत देश की ओर
जिसे नहीं जानते पृथ्वी के धर्म-ग्रंथ ।

उस देश के पेड़ों की छाँह में बैठ
कविता लिखने के लिए ।
कविता जिन्हें आज तक लिखता रहा
हथेलियों के नरम कागज पर
आलपिन् की नोक की कलम से ॥

जरूर पूछ लेता !
 ए जादूगर कहाँ ले जा रहा है मुझे ?
 पूछ नहीं पा रहा हूँ मैं,
 हिम्मत नहीं कर पा रहा हूँ
 आखों को चौंधियाने वाले
 तीव्र नीले आलोक के प्रवाह में
 सिर्फ ऊँध हा हूँ उसकी गोद में
 निस्तेजता के मकड़-जाल से लिपट कर ।
 कैसी सुस्ती ।
 कैसी बेबसी ।
 कैसी निस्पृहता का आकाश
 मुझे दबा रहा है जाने क्यों !
 आँठखें नहीं खुल रही हैं
 पलकें मुँदी हुईं
 मानो पानी की चट्टान पर
 किसी स्थिर नैया की परछाई ॥

सोच रहा हूँ,
 शायद वह देश घिरा हुआ होगा
 मेघ मल्हार की रागिणी के
 अस्तिक इंद्र-धनुष से
 हर-सिंगार के ढंढी के रंग जैसी
 ठोस-ठोस परछाइयों की अभीप्साएँ
 पार कर रही होंगी
 स्वच्छ स्फटिक रंग की सड़कों को
 फूल की पंखुड़ियों की कोमलता

शायद भरी होगी
उनकी भाषा में, अधरों में
अनुच्चारित ध्वनि में ।।

जा रहा हूँ ।।
तुम्हारे पास नहीं,
उस खूबसुरत देश की ओर
जहाँ मैं देख पाता होऊँगा
बिना आँख के भी सारे रूप-रूपांतर ।


बिना कान के भी सुन पाता होऊँगा
खुशबू से भरा कोलाहल ।
बिना हृदय के भी जान पाता होऊँगा
पाप, पुण्य के रास्ते को पार कर
कौन सब गये मृगया के लिए किस अरण्य में ।

देह नहीं होगी, फिर भी
किस तरह भींग जाता होऊँगा
अभिशाप की वर्षा से ।
पाप, पुण्य और प्रयश्चित के बादल
उतर रहे होंगे नीचे की ओर
एकाएक हिरनी की पुकार से ।।

वह ऐसा एक देश,
जहाँ नहीं होगा सूर्य, नहीं होगा चाँद
शायद नहीं भी होगा आलोक-अंधकार

फिर भी देख सकते होंगे, छू सकते होंगे
प्रार्थना से बनी छवि को
आँसुओं से बनी कविता को
सभी हृदयों के अभ्यंतर को ।।

कौन जानता है
निर्जन उपत्यका पर,
शायद निःशब्द बादलों के पंखों से
झर रही होंगी
फकीर कबीर की पद्यावलि !!
नीख होकर वेदना के सेवाल पर
दुलेमुल
अवाक शब्द
शब्दों की काकलि ।



गौतम की मुसकात

आँखें बन्द करने से
 क्या दिखाई पड़ता है
 ठीक कपाल के बीचोबीच
 धधकते दीपक की तरह, कैसे,
 आत्मा जलती है अभ्यंतर के अंधकार में
 प्रोत्साहित अग्नि-स्फुलिंग में
 छिपी रहती है जो अग्नि
 जानीमानी गुरुओं की त्रिकूट-गुफा में ?

निर्वात, स्थिर दीप-सी
 अत्मा जलती है
 त्रिकूट से आती है यदि धारा निरंतर
 समगति समानुपातिक रश्मि में
 आत्मा जलती रहती है अनिर्वाण
 धकेल कर अंधकार की गली, उप गलियों को
 छल्लेदार आलोक की लहरों से ।

उज्ज्वल रंग के हंस की भाँति

आत्मा उड़ती रहती हैं, खूब ऊँचाई पर
निराकार, निरंतर आलोकमय शून्य मंडल में ।

उड़ते हुए वह जाती कहाँ है ?
सप्तलोक के आलोक को बोध
कहाँ वह बनाती है नीड़ ?
दूसरी आत्माओं के साथ
करती क्या है वह ?
मैं नहीं जानता ।
तुम जानते हो क्या ?
आत्मा जाती कहाँ है
रहती कहाँ है,
किस मुसाफिर खाने में कितने दिन
क्या है उसकी रूचि ?
खाती क्या है वह ?
करती क्या है फुरसत के दिनों में !
कौन-सा गीत सुनती है ?
क्या गीत सुनने की चाह होती है उसमें ?

तुम भी नहीं जानता ।
फिर कौन जानता है ?
परमहंस योगी-गुरु
शायद जानते हों ।
आत्मा करती क्या है, चाहती क्या है
किसे ढूँढ़ती है ?
देह त्याग कर चले जाने के बाद !

लेकिन वे तो कहते कुछ नहीं
उनकी नीरवता की भाषा को
समझने के लिए
हमारे पास है कहाँ शब्दकोष ?

उनके निस्तरंग तनिक स्पंदित मुस्कान से
क्यो कुछ समझ में आता है ?
गौतम की मुस्कान की तरह
लगता नहीं क्या सबकुछ रहस्य-रहस्य !



परी-कथा

नींद से जगाकर खिलाने के लिए
 बचपन में दादी माँ
 जिस परी-लोक की कथा कहती थीं
 आज मैं वह कथा नहीं कह रहा हूँ।

यह
 सचमुच परी-लोक की कथा है।

आकाश के तले एक आलसी पक्षी के
 पंखों के बिना थिरकाए स्थिर पंखों से
 बहने की तरह
 जीवन था खूब हल्का-हल्का
 जब मैं था परियों के साथ।

हिलते जल में अपने प्रतिबिम्ब सा
 कुछ धुँधला कुछ फीका-फीका
 टूटे-फूटे चेहरे की छवि जैसा
 सब कुछ याद आ रहा है आज।

एक दिन की बात है ।
मेरी सबसे प्रिय परी ने कहा
'अब तू जाता क्यों नहीं धरती पर,
यहाँ तो तेरा समय खत्म होने को है।'

नारियल के पेड़ से कुछ सूखे नारियल के
नीचे गिरने जैसी धड़-धड़ की आवाज से
मुझे याद आ गया
अरे ! सचमुच मुझे तो जाना है धरती पर ।

फिर कुछ नहीं सोचा ।
कि जाते ही कहाँ रहूँगा, क्या करूँगा
देहात में या शहर में, ये सारी बातें ।

परी से कहा :
'ठीक है, अब बिदाई दो; मैं चलता हूँ।'

आ ही रहा था
कि अचानक पीछे से
उसने मेरी दोनों आँखों को
दोनों हथेलियों से भींच लिया ।
फिर कहा- 'हाँ रख दिया, अब जा ।'

मैंने चकित होकर पूछा
क्या रख दिया मेरी आँखों में ?
वह गंभीर होकर तनिक हँस पड़ी

कहा— तू जल्दी जा !
 वहाँ जाते ही समझ में आ जाएगा !

मैं तो आ गया
 बादलों की परतों को चीरते हुए
 तारा-नक्षत्रों केगाँव से होकर
 टेढ़े-मेढ़े रास्ते से ।
 रास्ते में देखा
 नीले-पीले रंग का एक पक्षी
 चंपा-वृक्ष की डाली पर बैठ
 गीत गा रहा है ।

उस पक्षी को पकड़ लिया चुपके-चुपके
 प्यार किया, स्नेह के साथ सहला दिया
 उसके गहरे प्राण को ।
 पक्षी ने मुझे निहारा, निर्माण-भाव से ।

न जाने ऐसा क्या था उसकी आँखों में
 कि उसके उष्ण और कोमल पंखों को
 सहलाते समय
 मेरी देह हो रही थी
 पसीने से तरबतर ।
 पक्षी की कें-कटर, कें-कटर
 की आवाज को सुनकर मैं डर गया ।
 उसके नरम माथे पर होंठों को चुलाकर
 उड़ा दिया उसे
 आकाश के नीले-नीले सपने भरे वन में ।

यह क्या गलती थी मेरी ?

फिर आ रहा था,
 सहसा भेंट हुई नदी के साथ ।
 नदी पार करने से ही जाऊँगा धरती पर ।
 घाट के पास की नाव लेकर पार हो रहा था,
 कि देखा एक सुन्दर सपने की तरह
 नीले-नीले जल में खेल रही है
 सोने के रंग की
 हल्दी-सी गहरी पीली एक मछली !

जाल फेंक कर
 पकड़ कर ले आया उस सोने की मछली को ।
 वाह !- सोने की मछली कितनी सुन्दर !
 सोने की हिरनी की भाँति माया तो नहीं ?
 लोभ की कोइ सीमा है क्या ?
 खूब खुशी से उसे पकड़ कर
 लौटा एक बारगी धरकी ओर ।

एक साफ-सुथरा पानी से भरा
 काँच के हौज में रखा उस मछली को ।
 मछली भी कितनी खुश !
 मानो रूप-सागर
 रूप ले रहा था आनन्द-सागर में !
 कुछ दिन मछली खूब इठलाने लगी
 उस निर्मल जल-भरे कुण्ड में
 महातृप्ति के आनन्द-उल्लास में ।

सन्य तो होता है आनन्दालोक में
 वही होता है सुन्दर ।
 काँच के झरोखे पर वर्षा-जल की भाँति
 सुनिर्मल प्रलुब्ध प्रगल्भता ।

एक दिन सुबह-सुबह उठकर देखता हूँ
 तो मछली तिर रही थी
 एक पीले पत्ते की तरह पानी पर
 मेरी साँस के अन्दर से जैसे
 निकल आयी एक गुरू-गंभीर शनि-छाया
 मेरा अपना दुर्भाग्य ।

गया ।
 चिकमिक् पत्थर की कृपा से
 ले आया आग की एक धारा ।
 चिताग्नि जलाई ।
 वन-हंस से कहा
 कि मंत्र पढ़ो ।
 श्रद्धा के साथ श्राद्ध किया
 गंगा के घाट में ।

यह क्या मेरी गलती थी ?
 फिर इतनी पीड़ा क्यों हो रही है ?
 यंत्रणा से अस्थिर मन, प्राण, देह ।
 हे हमारे प्रियतम कारुणिक ईसा मसीह !
 प्रभु ! तुम्ही बताओ
 कि मुझ से कौन-सी गलती हुई ?

इतने दिनों बाद
मैं ठीक समझ पाया हूँ
कि उस प्रिय परी ने उस दिन
क्या रख दिया था चुपचाप।
ठीक समझ पाया हूँ
कि एक आँख में
उसने छिपा कर रख दिया था
चिर निर्झर अश्रु-धार,
और दूसरी आँख में
टूटे-फूटे काँच के टुकड़े की मारिन्द
टूटा-बिखरा एक इंद्रधनुष
और, असफलता की एक सनद
टेढ़े-मेढ़े अक्षरों की।



झरोखे के उस पार तुम

झरोखे के उस पार
क्यों खड़े हुए
अँधेरे में आज ?

इस संसार, इस जगत का
अर्थ
अपने-अपने अकस्मात जीवन की भाँति
अवांछित, अश्लील है
यह जताने के लिए ?

तुम्हारी हरे रंग की
उज्ज्वल आँखें, जो जल रही हैं अँधेरे में
चाँद के सागर से तैर कर आई हैं क्या ?
साँसों में भर कर ले आयी हो क्या
सातों आसमान की निस्तब्ध महक ?

नक्षत्र की राजधानी को
पार कर आते समय
बदन को काफी हल्का बना दिया है।

पैर तो बिलकुल जमीन को
 छू नहीं रहे हैं।
 शून्य पवन में
 खड़ी स्थिति में तैरने की तरह
 खड़े हुए हो
 झरोखे के उस पार अँधेरे में
 कुछ कहने के भाव में।

तुम ने सोचा है
 कि मैं डर गया हूँ ?
 ना।
 मुझे तो पता है काफी पहले से ही,
 कि आत्मा नहीं है
 तुम्हारे शरीर में।
 शीशा नहीं है चश्चे में
 देह में उत्ताप नहीं
 एक धागा भी नहीं
 तुम्हारी पहनी हुई कमीज में
 मांस नहीं कंकाल में
 कंकाल भी नहीं है,
 वह जलकर राख बन चुका है
 कुछ दिन पहले चिता की आग में।

तुम्हारी आँखों में आँखें डाल कर
 आज मैं पूछ रहा हूँ ?
 तुम जिन पक्षियों के

पंखों पर सवार हा उड़ आये
 इस झरोखे के पास
 वे भी क्या विगत देह हैं ?
 वे भी क्या रटते रहे हैं
 तुम्हारी तरह
 तमाम जीवन-काल
 अभ्यास किये हुए विश्वास
 सिद्ध गुरु के उपदेश
 जीवन और जगत से
 पूर्णतम मुक्ति की बातें ?
 मुक्ति : वारिधि की परिधि
 मुक्ति : परिधि की वारिधि
 पक्षी आये हुए हैं
 जिस नील रहस्य की परिधि से
 फिर वे उड़ जायेंगे
 अपनी-अपनी स्थिति के क्षेत्रफल की ओर
 लेकिन छोड़ जाएँगे
 कुछ बातें
 जिनका स्वर वर्ण छू जाता होगा
 पातालस्पर्शी गहराई की नीखता को ।

मैं जानता हूँ
 कि तुम जहाँ रहते हो
 हम जब जायेंगे आज या कल
 किसी भी समय
 पवन के बन्द हो जाने के बाद
 उनचास पवन के प्रवाह में ।

वहाँ

सारी बर्फ पिघल कर

नदी बन जाती होगी

चाँद की रोशनी से

या

सारी नदियाँ बर्फ बन जातीहोगी

घटना के पुनर्विन्यास से,

कौन

जानता है ?



राह छोड़ चले जाते समय

ऐसा है कोई
 न देखने वाला आदमी
 कि कैसे एक तारा टूट कर आकाश से
 गायब हो जाता है धीरे-धीरे
 महाशून्य की नील लहरों में।

कितने सारे तारे
 टूट चुके हैं इस तरह
 पृथ्वी के अनुराग में
 सृष्टि के प्रारंभ से।
 आज भी ढेर सारे तारे
 शायद टूट रहे होंगे
 नजर की ओट में
 आसमान से।

आज इस रात में
 खास आज इस रात में।।

आसमान जहाँ छूता है क्षितिज को

वहीं आज आखेर में रोगाक्रांत है
 पिवन्न वसन्त ।
 पुनरपि-पुनरपि-पुनरपि
 कितने तारे फिर सेजन्म लेते होंगे
 पृथ्वी के स्नेहाकर्षण से
 आज इस रात में ।

जहाँ समुद्र छूता है
 बालूमय तट
 वहीं वह मुहूरत
 मिलन का महा तीरथ !
 या
 विदाई का आसन्न संकेत ?

कितने तारे, कितने ग्रह, कितना हाहाकार
 कितने सारे नक्षत्र, भरे आकाश में !!

आज इस रात में
 खास आज इस रात में ।।

कौन जानता है ?
 शायद हिसाब रखता है कोई एक
 कितने तारे गायब हुए
 कितने पक्षी उड़ चले
 सीमा पार कर आकाश में
 कितने सारे पीले पत्ते झड़ गये

जंगल के झरने के स्रोत में !
 सब के अंक गणित का हिसाब-किताब
 सारे फोटोग्राफ, चित्र, संवाद,
 अनमूले चाँदनी रात का गीत
 उसका अपना एकान्त गुप्त
 नाम उसका शायद चित्रगुप्त ।।

मान लीजिए— आज इस रात में
 खास आज इस रात में
 समुद्र सरक जाएगा दूर, अति दूर
 क्या होगा उसके बाद जानता कौन है ?

उस जगह निर्माण होगा
 पापियों के लिए मंदिर
 या पुण्यात्माओं के लिए श्मशान !
 या बनाया जाएगा
 कलुपित बर्बरों के लिए
 एक नई राजधानी,
 वहाँ राजा होगा रावण शायद
 कुंभकर्ण होगा
 कान में फुसफुसाने वाला होशियार शिल्पी ।।

आज इस रात में ।
 समुद्र यदि सरक आयेगा पास और पास !
 आने दो ।
 अपनी-अपनी राह छोड़ चले जातेसमय
 बहा ले जाएगा हमें

अपने गहरे क्षुधित गर्भ में ।
ले जाने दो
भय क्या ?
सलिल-गर्भ में फिर संचारित होगा भूण
सामुद्रिक जीवों के बीज में ।

भय क्या ?
उस दिन का तो इंतजार है हमें
राह छोड़ चले जाते समय ॥



राधा-कुलिश

दक्षिण का द्वार खुला हुआ है।
 लगातार
 चल रहा है आना-जाना।
 कभी पवन। कभी आलोक।

बिना निमंत्रण के घुस रही है
 पाल तानते हुए, डाँड़ की भाँति
 पक्षी के पंखों को हिलाते हुए
 पवन के प्रवाह को चीरते हुए
 अभागिन-हमदर्द सुबह
 मौन-मूक शाम, मूर्च्छित रात।

संस्कृत के जटिल
 अनबूझ व्याकरण की तरह
 सिर्फ आते नहीं हो तुम।

समय का समय भी थक-हर चुका है।
 प्रतीक्षा ही प्रतीक्षा में छिप जाता है वह
 पहाड़ की छाँह में।

गोधूलि लौट आती है
गाय के पीछे-पीछे नन्हें बछड़े की भाँति
सावन ऋतु की आँखों की पलकों में।

बाहर सावन। अन्तर में सावन।

भाषा हीन

आँखों की पुतलियों में

झमाझम बरसात।

नदी के नीले भँवर में

चक्कर काटने की तरह

नीले-नीले सपनों की

नन्हीं-नन्हीं चिट्ठियाँ:

तुम्हारी लिखावट की ग्भाषा हीन

अवाक् निश्चल नीरवता

अब सब कुछ। उसी नीरवता के

नीरव गर्भ में।

और हो क्या सकता है आगे या पीछे ?

आगे जो भी है हमारे लिए क्या अनजान है ?

अग्नि-शिखा की तरह क्षुधित सत्य !

हाँ, वह तो खड़ा हुआ होगा पास ही

सड़क के किनारे अनजान आततायी की भाँति

आलिंगन की अदा में।

आलिंगन के लिए

व्याकुल है हमारी देह

इसलिए तो
हम कवितालिखने की
हिम्मत करते आये हैं।
विवश करते हैं सुनसान नीले आकाश के
नक्षत्र को एक गीत गाने के लिए
जबरन बन्दी बनाकर रखते हैं पिंजरे में
पक्षी को 'गीता' सिखाने के लिए।

आलिंगित
आलिंगन में मथ जाने के बाद भी
न खत्म होगी कविता
न गीत
और 'गीता' तो हमारे साथ जाएगी
रथारूढ़ होकर।



शांताकार

तुम

आज से सभी वैदिक संगीत को
क्यों नहीं लौकिक कर लेते
भोर के रियाज से ?

तमाल वन के पक्षी से कह दो
कि सुबह होने से पहले वह गाये
आलोक की कोमल प्रार्थना;
समुद्र से कह दो
कि उसके अहंकार से भी
है और एक गहरी निविड़ जगह
जहाँ एक बूँद आँसू
मोती बन जाता है प्राण के स्पर्श से ।

अब तुम फूल बनकर मत रहना ।
पवन की तरह नाचो-गाओ
शून्य की स्वयंवर वेदी पर ।
मत सोचो कि अंधकार की सधन यातना
प्रियतम के आलोक का आलिंगन है ।

वर्षा कभी झर जाए तुम्हारी कोमल पंखुड़ी पर
 मत सोचो कि संगीत की थरथराती अंगुलियाँ
 धू रही हैं तुम्हें अनुराग से ।
 बादलों को देख इस खयाल में मत रहा
 कि प्रतिद्वंद्वी सूर्य का वह है संदिग्ध-शिकारी ।

तुम तो खुद हो, अनुपम रागिणी का एक झंकृत स्वर
 जगत में क्या है कोई
 उसकी अनध उपमा ?
 कोई तलना क्यों करे
 तुम हो चाँदनी रात थी चंद्रमा !

आकाश: तुम्हारी साँसों के फूलों का बाग
 समुद्र : है नीले आलोक का शयन-कक्ष ?

अब तुम कतई फूल बनकर मत रहना
 हमेशा
 सिर्फ फूल बनकर रहने को
 सह नहीं पायी है आज तक
 हिंसा की पृथ्वी ।
 सभी कोमलतम् पंखुड़ियाँ
 हाथ, पैर, पलकें, भौहें
 सब मिलकर हो जायें मह-मह
 सुगंधित दिक्दार चाहने की
 अणु-अणु पीले जीवन्यास वाली
 पराग-विभूति ।।

पता है ! निययानुबंधन में
समुद्र के ज्वार आयेगे बार-बार
भाटा भी ।

झरते पत्तों की आवाज में
वह कोई एक आयेगा निश्चय
धूसर पृथ्वी के परिव्राजक की तरह ।

अनुराग पंख फैलाएगा, धीरे से ।
अनजान अरण्य के गर्भ-कोष में
फिर एक बार कोई
अंजुलि भर-भर अम्लजान पीकर
गीत गायेगा सिन्दूरित क्षितिज में ।

उस समय जीवन हमारा
क्या नहीं गायेगा
वैदिक संगीत
सचराचर
लौकिक ढंग से ?



शून्य-वेद

संकीर्तन
ध्वनि ही ध्वनि में
कह चुका है;
गुजर गया कोई एक !!

तारे सारे आकाश में पैले हैं।
उनमें से कैसे कब
तारा एक खिसक गया सहसा
खो गया रेगिस्तान की
दिशा-विहीन रेत में।

कौन ढूँढ़ेगा ?
किसी-किसी के जीवन में
कभी-कभी आती है सुबह ?
पता नहीं।
पता भी नहीं चलता बिलकुल।
समझदारी गायब हो चुकी है
गायों के झुण्ड के रँभाने की आवाज से।

संध्या तो आगयी है न
लम्बे-लम्बे डगों से ?

नदी के तट की भूमि
पहाड़ के शीर्ष देश में
संध्या की सुन्दर, मुलायम
आँखों की स्निग्धता;
किंवदंती की किंवदंती-सी।

सवार होकर बैठ गयी है वह
घर लौटते पक्षियों के पंख पर ।

इन सारी बातों से क्या मिलेगा
हमें ?

सिनेमा देखना था
देख लिया ।
सिनेमा में जहाज को डूबता था
डूब गया ।

उसके बाद की निस्तब्धता को
जेब में, साढ़ी के पल्लू में बाँध
हमें अपने-अपने घर
लौट जाना था
लौटेंगे ॥



इंद्रधनुष

एक सप्तरंगी इंद्रधनुष
 दिखाई पड़ता है आकाश में
 जब होती है सूरज की कुछ किरण
 कुछ बादल, कुछ बरसात
 वैसा ही यह हमारा
 स्वप्न भरा आच्छन्न जीवन ।

नीरवता-नीरवता का नाम
 रटते रटते हैं सभी
 लेकिन होती है कहाँ नीरवता
 क्या जानता है कोई ?

संगीत के सात स्वरों में
 कहीं होती होगी नीरवता नीरव हो
 गीत की खुशबूदार तरंग
 जब छूती है शीर्षतम चरम सोपान
 मन होता है अवरुद्ध
 ध्यान होता ध्यानातीत
 नीरवता उसका है दूसरा नाम ।।

देह में होते हैं शायद
 सात चक्र, संगीत के सात स्वरों की तरह
 निरुद्ध उन चक्रों को खोल सकें
 एक-एक कर
 हारमोनियम में आते-जाते
 संयत पवन की भाँति
 निःश्वास, प्रश्वास के खींचने और ठेलने में
 खुल-खुल जाता है शायद नादस्वर
 उसी स्वर से पैदा होती है
 नीरव झड़ की झंकार ।।

ऐसी कई बातें कहीं जाती हैं
 लेकिन नीरवता मिलती कहाँ है,
 होती कहाँ है !
 सचराचर सपनो से भरी धरती पर
 निमृत्, अपने अभ्यंतर में ?

आधीरात को गाँव की नौटंकी देखते-देखते
 किसी पेड़ से टेक लगाये
 आँखें मूँदकर सो जाने से
 शायद आती है नीरवता !!

गाना-बजाना सब कुछ
 कान के पास आता होगा
 गीतमय पवन में
 पर कुछ नहीं सुनाई पड़ता होगा

नीरवता ढकी रहती होगी
नीरव होकर ।

पेड़ के डाल के कोटर में
पक्षी मिसट कर सोया होगा
नीरवता की शून्य चौहदी में
नक्षत्र की नीरवता की तरह
आकाश की महान नीरवता की तरह
अवाक् फूल खिल कर
झर जाते होंगे नीरव हो,
नीरव श्लोक से आवृत्त
हरित प्रांत में,
तमाम शरीर धुल जाता होगा
नीरवता की मिट्टी में
नीरवता खो जाती होगी
बिना कूल-किनारे वाली
भयंकर नीरवता में,
फिर भी नीरवता खोजती होगी
कोई नीरव, श्यामल उपत्यका
ध्यानातीत गीरव ध्यान में ।



गोधूलि

वह हो सकता है अवश्य
 निष्ठुर, दुर्दान्त, अदमनित
 अंधा ।
 लेकिन सूर्यास्त तो सच है ।
 जिस तरह लाखों बार सच है
 कोमल उदार
 चिरकाल
 'उदय' ।

कमल की पंखुड़ियों के खिलते समय की
 नीरवता का जीवंत गीत ॥

पसरी हुई रात के
 समूचे भयानक अँधेरे की मानिंद
 समूचे हृदय में पसरी हुई होती है
 दिग-विदिग की शून्यता
 कतारों में उड़ते पंछियों के पंखों में ।

एक लम्बी शून्यता को

पोटली में बाँध, गले में लटकाये
एकाकी घर के कोने में
पड़े रहने का माने क्या है ?

इस लम्बी शून्यता को
सीने में कील ठोककर
ईसा की तस्वीर-सा
यदि लटकाया जा सकता सीन पर
झरझराते खून के सूखने तक !
हे ! हमारे प्रियतम ईसा !!

निर्वासन के निर्वासित होने का
यही वक्त है ।।

झरोखे के बाहर कोलतार की
जो काली सड़क फैल गयी है,
बाह में बाँह फँसाये
बना चुकी होती है वह
निशब्द, नीरवता का एक 'क्रास'
और एक सड़क पर ।

विजनता के देश रेगिस्तान में
हजार-हजार अलौकिक ऊँट
दौड़ रहे हैं इधर-उधर ।
रेत भरी धूल की परत में
डूबने लगा है सूर्यास्त ।।

‘माडागासकर’ का पंछियों का सौदागर
जिन लाल, नीले, पीले सुग्गों की तरह
सुन्दर पंछियों को कैद कर रखा है
लोहे के बारीक जालीदार पिंजड़े में
क्या वह रख सकता है चिरकाल !
सूर्यास्त में ही वे उड़ जायेंगे
फिर एक बार
‘माडागासकर’ ।

मैं भी उड़ना सीख चुका इस बार
राह ढूँढ़ रहा हूँ...
राह ढूँढ़ रहा है पिंजड़े के अन्दर
किस दिशा में है
माडागासकर ?



अपराह्न की नदी

फिसलती लुढ़कती
 इस अपराह्न की नदी को देख
 क्या लगता है ?
 कभी-कभी लगता नहीं क्या
 कि सिनेमा की रील की तरह
 सारी छवियाँ तैरने लगती हैं
 जन्म से लेकर अब तक ।

कभी-कभी
 बहती धारा में
 कितने सपने आते हैं कितने नये
 पुराने बन्दरगाहों से
 चले जाते हैं बहती धारा में
 मछली पकड़ने के जाल में
 सारे सपने लेकर ।

सचमुच कहाँ जाती है वह ?
 पानी के फर्श पर
 आँकते हुए जटिल ज्यामिति

बिन्दु, वृत्त
 ऐशान्य से नैरुत,
 कोण, अनुकोण, समकोण
 भरने लगती है सचमुच
 मेरी आखों में आषाढ़, श्रावण ।

सचमुच कहाँ जाती है वह
 शायद जाती होगी नदी के
 अथाह जलराशि वाले दह में
 सोने की डिबिया के अन्दर क्या-क्या है
 सब कुछ देखने के लिए ।
 वहाँ हो भी क्या सकता है ?
 कुछ आत्मीयता, जो गुम होती जाती है
 हर पल
 क्षितिज के उस पार
 और एक नदी के जल में ।

और क्या कुछ हो सकता है ?
 शायद हो सकती है
 आषाढ़ी कन्या की उन्मुक्त कवरी
 और उसकी मुडौल देह पर
 नग्नता के झूठे विज्ञापन
 कलंक लगे खरोंच-नोच के दाग
 मेहन्दी की लाल अल्पना ।

यहाँ तक कि

वहाँ शायद कुछ भी नहो ।
 सिर्फ खोखली, सुडौल निरी शून्यता का
 एक अंधा गर्त
 एक काला गहरा गर्भ ।

उपराह्न की नदी
 फिसलती लुढ़कती जा रही है ।
 जाती रहे धीरे-धीमे
 उसके इस तरह चलने में
 फिसलते लुढ़कते हुए बह जाने में
 एक अनोखा माधुर्य हैं
 मानो सिर्फ काव्या
 रस-कल्लोल है
 एक विस्मय भरी मीनाकारी भी है ।
 इसी तरह हो भी सकता है और काफी कुछ
 जैसे संगीत के राग और रागिनी ।

कलावती है वह ।
 छन्द जानती है, छान्द जानती है
 तरीका जानती, कटाक्ष का कायदा भी जानती है
 भले ही वह अपराह्न की नदी ।।



एक न एक दिन

जाओ। अब जाओ।
 किसी पौधे से फूल के झड़नेकी आवाज जैसी
 अपने पैरों की आहट से।

इधर-उधर फुर-फुर उड़ते-फिरते
 पक्षियों की सुनाई न पड़ने वाली आवाज जैसी
 जा सकते हो, तुम, खुले दरवाजे से होकर
 अस्त सूर्य के पहाड़ के कोटर की ओर।

हर छन बदलने वाली
 नदी के इस तट पर कभी मत आना।
 यहाँ अब लेटे-लेटे मैं मना रहा हूँ
 स्वर्ण जयन्ती मेघ भरी रात के अभिषेक में
 पचास साल के
 इस प्राचीन विशाल बमीठे में क्या है ?
 न - तुम्हे पता।
 न - मुझे पता।

देखो

समूचे आकाश में नक्षत्रों की मालाए
मानिनी आमारात के स्मृतियों से भरे
टगर के फूलों की भाँति ।

आज, अभी, इसी लग्न में
सिर्फ नजर आ रही हैं
या-पहले से थीं वे ।
वे थीं, वे रहेंगी ।
सच है कि हम नहीं होंगे
यह कविता रहेगी या नहीं कौन जानता है ?
कौन जानता है कि
हम फिर आयेंगे या नहीं !
उन पुराने नक्षत्रों के नये आलोक में
इतनापहचाना हुआ सब कुछ
पिर भी तब लगेगा अनजाना-अनपहचाना ।



ट्रेन

ट्रेन लाइन के खूब नजदीक
मैंने प्लाट लिया है।

लम्बी बैल्कॉनि में खड़े होने से
समुद्र दिखाई नहीं पड़ता
दिखाई पड़ता है
ट्रेन का आना-जाना।

गौहरी से बेंगलुरु चेन्नई से कोलकाता
भुवनेश्वर से छत्रपति शिवाजी टर्मिनल
पुरी से अहमदाबाद

आँखें मूँदकर सुन सकते हैं
हर गाड़ी की अलग-सी
विचित्र मड़गड़ाहट की
गीति-विचित्रा।
आँखें मूँदकर देख भी सकते हैं
हीरा-सा प्रभात
सुनार का सूर्यास्त ।।

इन सब गतिशील दूरगामी ट्रेन के
 खुले झरोखों से कोई देख रहा है क्या ? मुझे !
 ना-ना, देखने की कोई गुजाइश नहीं ।
 इतने लम्बे वर्षों के बाद

देख रहा हो :
 तो और कौन देखता होगा ?
 देख भी ले तो
 जान-पहचाना हुआ नहीं लगेगा ।
 बांग्लादेश में जिन्दगी के बीस साल
 झूठी सजा काट कर लौटने वाले
 देवोपम अपराधी ?

माओ कैंप के असह्य अत्याचार से
 बच निकलने वाली कुछ युवतियाँ !
 जो लौट रही है
 समाज के बलात्कार के पिंजरे की ओर
 अपने ही अनजाने में ।
 शायद इसी ट्रेन से ।

पता नहीं चलता
 कि कौन जा रहा है। कौन आ रहा है ।
 मगरमच्छों वाली परिखा से घिरे
 काले धन का किला
 अभी-अभी
 ढहने लगा है। एक के बाद एक ।
 इस पुण्य भारत-वर्ष में ।

साधु-संत अब
लगे हैं व्यापार में
'वाणिज्ये वसते लक्ष्मी' मंत्र को दोहराते हुए।

आज पता नहीं
ऐसा क्यों लगता है ?
कि शायद इस वेगवती ट्रेन से
आ रहा है अंजलि भर चम्पा-चंदन की
महक से भरा हुआ
जाना-पहचाना सा खूब मशहूर
एक समर्पित, दूरन्त, मोहित
करुण अतीत ।।



निस्तब्ध

पृथ्वी की उम्र को लेकर
 खोजा जा रहा है शुरू से तुम्हें।
 सारी खूबसूरत सुबह
 चमत्कार-चमत्कार शाम का
 हर पल
 दिन में भी। सत में भी।

खोजा जा रहा है
 फैली हुई शून्यता के आकाश के फैलाव में
 कई जगह
 पूछी गयी हैं तुम्हारी बातें।
 तुम्हारा सीधा-सा ठिकाना !
 जैसे !
 निःशब्द वलय में रहने वाली
 करुण कपतियों को।
 सारे जंगल में हँकै हुए वनचरों को।
 परिचित-अपरिचित पक्षियों को,
 जटायु को भी

कितना कुछ पूछा गया है तुम्हारे बारे में
 उन दिनों की राजकन्या, इन दिनों की महारानियों को
 गंगा की रूपहली हिलसा मछली को भी ।
 उत्तर दिशा के पहाड़ को लाँघ, झील को लाँघ
 बर्फ बरसने वाले गाँव से आयी हुई
 विदेशिनी, पीले-पीले, श्यामल-श्यामल
 उज्ज्वल आँखों वाले पक्षियों को भी ।

उन्होंने कुछ भी नहीं कहा ।
 चुप रहे और चोंच में एक
 उज्ज्वल समय की बूँद को लिये उड़ चले
 उस व्याप्त आकाश की अनन्तता की ओर ।

मैं तो यहाँ
 ऊँचे-ऊँचे रेत के टीलों पर
 उसी तरह बैठा हुआ हूँ
 अभी-अभी खूब अकेला हूँ ।
 मेरी तरह ढेर सारे, कोई-कोई तो
 बैठे हैं, तो बैठे ही हैं
 सुन रहे हैं पिस्तौल, बम की आवाज से भी
 एक मुग्ध-अखण्ड नीरवता
 सड़क के किनारे के निःशब्द
 कूड़ेदान-सा सब चुपचाप हैं ।

आश्चर्य, हमारा अब भी
 कविता लिखने का सिलसिला जारी है ।

अपार्थिवता की उड़ान में नहीं
 सांविधानिक तर्क में, सामाजिक प्रतिबद्धता में
 स्थानीयता के शब्दों में, रूप में, रूप कल्प में
 खण्डित वाक्य के वाक्यांश में
 इस अखण्ड नीरवता से हमारा हो क्या सकता है ?
 ध्यानातीत ध्यान की नीरवता
 या निष्प्राणता, निःशब्द, निस्तब्धता की
 जहाँ केवल देवता नामक प्राणी ही
 रह सकते हैं। आना-जाना कर सकते हैं।

मनुष्य क्या देवता बनने
 जा रहा है शायद ? अच्छे बात है।



छाया

छाया की भी एक देह है
 और रक्त, माँस, हृदय जैसा एक यंत्र ?
 क्या पता-ज्योतिषी बतायेंगे उस

मैंने जो सुना है, नेट से उतार कर
 पढ़ा है— छाया की भी एक देह है।

वरना
 हाँफते हुए भाग कर छाया
 कामपल्ली की सब्जी-मंडी से
 पश्चिम बंग से आये हुए आलू,
 नासिक की प्याज और बेंगलुरु का
 लाल टमाटर थैले में भरकर,
 कैसे आ सकती है दरवाजे के पास ?

छाया लगाम पकड़कर धोड़े पर बैठ सकती है
 चाणक्य की नीतियाँ रटकर चुनाव जीत सकती है
 संविधान की ३०५ धारा को
 समझ सकती है, समझा सकती है।
 टी.वी. देखती है, सीटी बजाती है

नायक बनती है, नायिका बनती है
 नायक-नायिका दौड़ते रहते हैं,
 फूलों से भरे पार्क में।

छाया सब कुछ कर सकती है
 लेकिन प्रतिवाद नहीं कर सकती
 वह तो मूक है
 न कीचड़ में जाती है, न पैर धोती है
 वह तो लंगड़ा है, पंगु आदमी है।

हालाँकि काफी लोग जानते हैं
 कि भूतों की छाया नहीं होती
 किन्तु जरूरत पड़ने से वे
 खूँख्वार हो जाते हैं,
 प्रतिवाद करते हैं, प्रतिशोध भी लेते हैं।
 छायाएँ सबकुछ नहीं कर सकतीं
 बकरी के माथे पर
 लाल-लाल सिन्दूर लगाकर
 मंदिर की ओर खींचे जाने की तरह
 धीरे-धीरे रास्ता तय करती हैं छायाएँ।



आदिम

हम क्या अनजान हैं
 कि एक दरवाजा बन्द रहता है
 तो एक और दरवाजा खुला रहता है ?
 फिर भी यह बिना जाने कि दरवाजा खुला है
 हम चीखते हैं
 कि दरवाजा बन्द है, दरवाजा बन्द ।
 यह शायद हमारी एक और आदिमता है ॥

घटने वाली बातें घटित होती है अपने हिसाब से
 लघुचाप की वर्षा से बाढ़ आती है नदी में
 हमें चाहिए सिर्फ ऐसी एक जगह
 जहाँ पानी पहुँच न सके
 जगह की बिना चीखते
 बाढ़-बाढ़ चीखते हुए
 हम बह जाते हैं उसी बाढ़ में
 अखबारों के पन्नों में भी वही एक बात
 सिर्फ चीख और चीख
 क्या यह नहीं है हमारी एक और आदिमता ।

हर बात में यह बात भी साफ है
 कि आदिमता सोई रहती है हमेशा आस-पास
 सभ्यता की गोद में ।
 हर बात में यह बात भी सच है
 अर्थ, कर्म या धर्म में भी ।
 आदिमता मारती है, काटती है,
 गोलियाँ चलाती है, आग लगाती है;
 जो आग जलती रहती है
 सभ्यता के नामि-केन्द्र में ।

आग जलती है और जलाती है
 घर, द्वार, जंगल
 उस आग की रोशनी में भी
 सुनाई पड़ती है चीख ।
 चीख में, आग की रोशनी में
 दौड़-धूप करने वाली
 काली नंगी छायाओं की चीख ।
 तमाम इतिहास में ढूँढ़ता रहा
 यही वीभत्सता का शिकार ।
 घटित होती है घटनाएँ नियत, अनवरत ।
 कौन घटित कर रहा है,
 कहाँ है वह आदिमता ढूँढ़ो-ढूँढ़ो
 इस चीख में मैं तो नहीं ?

अहा बेचारा मैं ।
 मैं तो सर्वत्र ॥
 चौसर में, द्यूतक्रीड़ा में, मोहरा चलाने में
 धुड़दौड़ में, चुनाव में मैं ही मैं !!



संपर्क

पृथ्वी रोती है तो मैं रोता हूँ।
 मैं रोता हूँ तो पृथ्वी भी रोती है।
 क्या संपर्क है उससे मेरा
 मैं समझ नहीं पाता हूँ कतई।

लगता है कभी-कभार
 कि मैं घूम रहा हूँ पृथ्वी के साथ
 उसके कक्ष पर।
 लगता है कभी-कभी वह घूम रही है
 मेरे साथ मेरे वक्ष पर।

सच में, यह है एक रहस्य
 जरूर है कोई संपर्क
 पृथ्वी से
 मैं जान नहीं पाता हूँ उसे,
 न होता तो अवचेतन में
 या धुँधले सपने में
 क्यों मैं ढूँढ़ता रहता उसे
 क्या है वह मेरे नयनों की पुतली ?

शायद बहुत दिनों की बात है
 उसने मुझ से कहा था—
 कि ले आयेगी मुझे
 अपनी धूसर और हरित पीठ पर।
 दिखाने के लिए मुझे
 कितने सारे सुन्दर पहाड़, झरना-समुद्र
 सिन्दूर-सा आकाश, सुन्दर जीव-जन्तु
 पक्षी तोता-मैना
 मुझे वह ले आयी थी यहाँ,
 उस बात को भूल चुका हूँ
 कि कैसे मैं आया।
 देखता रहा कितने सारे मरुतीर्यों से होकर
 पहाड़, पादपों से होकर
 ढेर सारी छवियाँ और छवियाँ,
 जादूगर के इंद्रजाल की तरह
 आकाश के तारे, पुनम का चाँद, आँधी का अँधेरा
 महसूस किया सभी पानी और हवाओं को
 मेघ के जमघट और शाम व्यथाओं को।

मैंने उसे वचन दिया था
 कि अन्तिम समय मैं कहीं और
 जाऊँगा नहीं बिलकुल,
 रह जाऊँगा उसके पास,
 उसकी हवा बनकर, सुर बनकर
 उसकी सुबह, उसके उजाले, अँधेरे में
 मिट्टी के संग मिट्टी बन कर
 नदी के संग नदी बनकर

नाव के साथ नाव बनकर धुल जाऊँगा
उसकी छाती में, उसकी देह में।

उसके फागुन, चैत के गीत
मुझे मिट्टी के नीचे से सुनाई पड़ते होंगे
वह भी क्या सुनती नहीं होगी
मेरे गाने के हर सुर में ओड़िशी संगीत ?



एक वीआइपी की मौत को लेकर

उनकी मौत हो गयी ।
 एक विमान हादसे में ।
 वे विराट थे । एक वीआइपी थे ।
 उनका मर जाना जरूर व्यथा की बात है ।
 न जाने कैसे बिमान गिर पड़ा घने जंगल में ।
 वर्षा हो रही थी रह रह कर ।
 काले-काले जहाजनुमा बादले
 तैर रहे थे आसमान में ।
 बिजली कौंध रही थी,
 चौंधिया उठता था समूचा जंगल ।

उनका मर जाना जरूर दुःखद बात है
 पर ऐसी कोई बहुत बड़ी बात नहीं है ।
 सबसे बड़ी बात और विशेष बात यह है
 कि उनके मरने की खबर पाकर
 कुछ और लोग मर गये ।
 आत्महत्या करके हो या हृदघाद से
 उस आदमी के लिए मर तो सके ।

सबसे मजेदार बात है और सबसे आश्चर्य भी ।
 उस आदमी के लिए जो सब मर गये
 उनमें से काफी लोग शायद ही उन्हें पहचानते थे
 यहाँ तक कि देखा भी नहीं था उन्हें या उनका फोटो ।
 उनकी इसी मौत का कैसे अन्वय करेंगे
 आप लोग ?
 कबि हो या दार्शनिक
 इतिहासकार हो या समाज-विज्ञानी
 क्या कहेंगे वे ?
 किस उपसंहार में पहुँचेंगे वे ?

देश या समाज
 कभी भी कहेगा नहीं शहीद !
 आत्मीय-स्वजनों के अलावा
 कोई एक फूल चज़ाएगा नहीं उनके फोटो पर ।
 जलाएगा नहीं कोई एक कंदील
 उनके लिए देश दागेगा नहीं 'तोप' ।
 फिर भी उनका योंही मर जाना
 एक विशेष बात नहीं है क्या इतिहास में ?

जिसके लिए ये सब मर सके
 वह आदमी निहायत एक अनिन्दित व्यक्ति था
 सीने पर हाथ रख कर नहीं कह संकते ।
 फिर भी उनकी मौत की खबर सुनकर
 ये सब मर गये या आत्महुति दे दी !
 यह आत्माहुति

एक संवेगात्म द्वन्द्व बिलकुल नहीं है।
 वे शायद अच्छी तरह समझ सके थे
 कि जो व्यक्ति हादसे में मर गया
 उस व्यक्ति की मौत ने
 उन्हें विचलित नहीं किया है।
 बल्कि उस व्यक्ति में थी
 जो देशभक्ति, अपने भाषा-भाषियों को
 चाहने का नशा
 अपने गाँव, मिट्टी, नदी, लाल पहाड़
 हरित वन, नील समुद्र, पशु-पक्षी—
 इन सबके लिए थी
 बिना किसी समझौते की आन्तरिकता
 शायद इसलिए।

उन्होंने सोचा कि वह
 मटियार शरीर का व्यक्ति नहीं
 उस व्यक्ति में था
 अपने गाँव की मिट्टी के लिए जो प्रेम
 अपनी भाषा के लिए प्रेम, राज्य के लिए प्रेम
 वह खत्म हो गया है।

पता है ?
 मैं अब ओड़िआ की थेसिस पर थेसिस
 पढ़ने लगा हूँ, ढूँढ़ने लगा हूँ
 नजाने कहीं एक वाक्य मिल जाये—
 हमारे गाँव से प्रेम करने वाले,

भाषा से प्रेम करने वाले
वे गोपबन्धु हो या मधु बाबु
या फकीरमोहन या बिजुबाबु
या महताब की मृत्यु के समय
किसीने ऐसी आत्माहुति दी थी या नहीं ?
यह आत्माहुति उन बातों के लिए हो नहीं सकती,
जैसे— यह हमारे राज्य हमारे देश, हमारे जंगल,
हमारे जल, हमारी खनिज संपदा के लिए कम-से-कम ?



समयान्तर में

आगन्तुक समय
अपरिचित है हमारा ।
जो कुछ परिचित था पलायित समय में
वह भी तो अपरिचित था
उस समय के आगमन से पहले ।

समय आ गया
या आ चुका था जो ;
कितना सारा स्नेह नहीं बाँटा हम ने
उसकी कमर पर हाथ रख कर
आँखों से आँखें मिला कर
उसके चिबुक को आहीस्ते सहलाते हुए
कितना अनुनय नहीं किया
छलछलाती आखों से ।
समय कुछ-कुछ समझ सका
कुछ और नहीं समझ सका
हम इन्सानों की भाषा !

खुद को छिपाकर बादलों में
 इन बादलों में से चुपचाप
 चाँद देख क्या रहा है ?
 वेदना क्लांत नदी की नीरवता
 अराजक समय की धुँधली निगाह
 टूटी हुई नाव का आतंक !

सातकोशिआ दह में नाव डूब गयी है
 जो समा गये पानी में
 उन्हें क्या कहा जाएगा
 वर्तमान का अतीत ?

उसे क्या कहेंगे आप
 गुमराह कोई निर्झरिणी
 समुद्र की ओर जाते-जाते
 यदि खो जाती है रेगिस्तान में ?
 कहेंगे क्या कि यह है उसका
 अमीष्ट कर्मफल !
 दअष्ट और दृष्टि के अन्तराल में
 जो कुछ रह गया
 उसे ही तो कहेंगे हम
 प्रकृति का गोपन रहस्य ।

माँ धूमावती ! तारा, छिन्नमस्ता
 माँ कमला, भुवनेश्वरी

१ . ओड़िशा के गहरे दह का नाम ।

देवी-तत्व के शब्द-चुम्बक से गठित
चुम्बकीय इस धातव देह को
मत उलझा माँ
किसी और मरणान्तर मकड़-जाल में;
बेकार के प्रारब्ध-प्रारब्ध शब्द के
वहणानुबन्धन के अजीव दाय में ।।



अरण्य का चाँद

अतीत होता है हमेशा उज्ज्वल
भले ही बादलों से ढका हो ।

कभी-कभी तुम
जिस तरह बड़बड़ाते हो, ना !
सोने का निरग, सोने की हिरनी,
सोने का मिरग....
यह नहीं है क्या
उस प्रतीकात्मक निर्वाण का
एक इकतरफा रास्ता
पसर गया है जो
एक समुद्र से एक और समुद्र तक
एक निर्णित आकाश से
एक और निर्णय आकाश तक
जिसका कोई अन्त नहीं ।।

रास्ता हो सकता है घूमते हुए
फिर आ जाए अपने स्थान पर
जिस बिन्दु से कदम शुरू होता है ।

शायद न भी आये ।

नदी क्या लौट सकती है
 अपने पहले के रास्ते पर
 क्या सहला सकती है
 पार किये हुए धूसर
 या श्यामल उपत्यका को ?
 पृथ्वी में ढेर सारी आत्माएँ हैं !
 मानव गाय-बैल, साँप, मेंढक
 मिट्टी के नीचे के कीड़े मकोड़े भी
 कुल मिलाकर कितनी आत्माएँ ?
 और कितनी आत्माएँ पृथ्वी से जा चुकी हैं
 समुद्र के उस पार के
 उस अंतिम बन्दरगाह की ओर ।

हम में से कोई कभी क्या कह सकता है
 कि पृथ्वी की पहली आत्मा कौन है ?
 क्या था उस आत्मा का रूप या स्वरूप !
 क्या कोई कह सकता है
 कि आत्मा लौटेगी शरीर में फिर एक बार ।
 वह आत्मा पेड़ की भी हो सकती है,
 लकड़ी के कुन्दों की भी,
 गाय-बूँद पानी की भी हो सकती है,
 धूल की भी ।

हम क्यों सोचें
 कि नक्षत्र की नहीं है देह

पवन की क्षुधा नहीं
 समुद्र की नहीं कोई पिपासा
 सभी संगीत का
 अपना-अपना एक कण्ठ नहीं
 किसी उत्साह गायक सा ?

काल्पनिकता यानी क्या हो सकती है ?
 मान लीजिए तुच्छाति तुच्छता,
 रूपकल्प यानी
 कुछ वास्तविकता की आधार भूमि
 किन्तु सही नहीं है वस्तु की वास्तविकता
 वस्तु के भीतर भी हो सकते हैं
 किसी और आकर के
 वृत्त या रेखा की ज्यामिति
 ज्यों शून्य के भीतर भी हो सकती है
 वस्तु-धन-परिमिति की
 चित्रांकित अदृश्य-ज्यामिति ।
 जैसे स्थिर दीप-शिखा !
 शिखा के भीतर भी होती नहीं है क्या
 एक और दीप्त, तेजियान, अन्तर्लीन शिखा ?
 क्या है यह सब आत्मा की प्रकृति
 या प्रकृति के भिन्न-भिन्न
 एक साथ सृष्टि और विलय की
 निर्णीत सांकेतिकता
 सूक्ष्म को आवृत्त करके रखती है
 स्थूलता की विद्यमानता ?

नहीं पता !
कौन कह सकता है
कि हमारे पूर्व निर्णीत आयतन में,
आप सब हैं या मैं।
हम सब क्या नहीं है एक-एक
जीवित-मरे हुए व्यक्ति,
इस नियत
बदलते वाली आलोक-राशम की
छाया-धन परछाई।
या स्थूल परिमिति के अन्दर
अनगिनत रेखांकित अदृश्य ज्यामिति।



अपने अन्दर खुद

कुछ प्रश्न

प्रश्न बनकर रह जाते हैं।

युगों-युगों तक मिलता नहीं उत्तर।

आईने में होते हैं जितने रूप

जितनी मौनता

जितने विश्व-रूप !

उन्हें क्या पढ़ा जा सकता है,

जीवन-काल में ?

पढ़े तो भी

क्या दिया जा सकता है

सही उत्तर ?

आईने में छवि को देखते हुए

दिन और रात,

लहर समुद्र और आकाश

कितनी छायाएँ,

कितने सारे घने अरण्य

सब में क्या देखा जा सकता है

अपना आत्मरूप ।
उन सब की कुछ बातें
बात बनकर रह जाती हैं;
चिर निबिड़ अन्धकार में
जिनके लिए कभी भी
आती नहीं है सुबह ।



माँ

॥१॥

काफी दिन बीत चुके हैं।
 वैशाख गया, सारा फगुण गया,
 वर्षा झरने लगी
 हमारे गाँव की नदी महषिकुल्या में
 बाढ़ आयी, गयी
 ऋतुएँ बदलती रहीं
 पर, काफी दिन हो गये
 देख नहीं पाया तुम्हें।
 न जाने कैसे ?
 सिर्फ महसूस है तुम्हारी
 बिना आवाज की, बिना बोल की
 उस अवाक् नीरवता की
 अखण्डित व्याकुलता को।

बड़ी कठिनाई से
 ऊपर की ओर हाथ उठाकर
 किस अँधेरे को टटोल रही हो माँ ?
 तुम तो हो—

उस आलोकित विमान की यात्री ।
 हॉ माँ-मत भूलो
 कि तुम हो उस आलोक पथ की यात्री ।
 जिस पथ पर गये हैं- “बाबूजी”
 जगत के महान-महान ऋषि, योगी-
 तुम हो माँ उसी पथ की यात्री !

याद है माँ
 बहुत छुटपन में
 भात का कटोरा हाथ में लिये
 घूमती-फिरती थी आँगन में
 हमारे रहनेवाले उस जमाने के
 ‘राधाकृष्ण मठ’ के एक किराये के मकान के
 और कहती थीं कि खा ले जल्दी-जल्दी
 यह दख ‘बलकृष्ण महाप्रभु’ आ रहे हैं
 आकाश से तेरे साथ खेलने,
 ‘राधाकृष्ण मठ’ के आँगन में ।
 भर पेट खाकर सो जाता था,
 तुम्हारे पलंक पर
 जान नहीं पाता था
 कि “कृष्ण महाप्रभु” आते थे या नहीं
 खेलने के लिए मेरे साथ
 कम-से-कम सपने में ।’

॥२॥

अब मेरे माँ
 मुझ से है बहुत दूर

दूसरे एक शहर में
 अन्य सभी भाई-बहन
 परिवार, नातेदारों के साथ ।
 फिर भी न जाने क्यों
 एक गुमसुम 'सन्नाटा' ढाँप लेता है उन्हें
 'बाबूजी' के गुजर जाने के बाद ।
 पता है— होठों को खोल कर
 भले ही वे कुछ न कहें
 पर कुछ बातें तो कह लेती हैं
 त्याथा की नैया पर लेटे-लेटे
 आँसू-भरी आँखों ही आखाँ से ।
 अभय और आशीष की दीप्त निगाहों से ।

देखा है माँ
 कई बार तुम्हारी स्निग्ध,
 मलिन आँखों की कोर में
 चंदन की एक छोटी बिंदी-सी
 तारा भर रोशनी
 जो रोशनी धो डालती है
 मेरी इस काली-कलूटी देह को
 सहला देती है,
 'रक्षा कवच' के सहस्र-सहस्र
 मंत्रों से अभिमंत्रित
 उन आँखों की भोर की धूप से
 उन आँखों के समुद्र जैसे मातृत्व की
 वात्सल्य-लहरों से ।

उसी युगंधित फल की
 उन पंखड़ियों की नरम-नरम
 उत्ताल लहरों को माँ आज मैं
 पोछ नहीं पा रहा हूँ अपने हाथों से ।
 वेदना के हर सुर में कभी बादल,
 कभी वर्षा में भींगते हुए
 भिन्नक्षम आज इस जीवन की नैया 'मा' ।
 अब बिलकुल छू नहीं पा रहा है
 अपनी माँ की अन्तहीन ममता का समुद्र-किनारा ।

कई बार चाहा है कि जाऊँगा-जाऊँगा
 देखने के लिए एक बार आँख भर कर
 जैसे निहारता रहता है
 धान का खेत स्वार का
 आकाश के तैरते बादल को ।

